योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 33 नवम्बर 2000 अंक 8

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

संवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

❐

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

❐

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

❐

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव
विनोद कुमार शर्मा

एक प्रति	रु० 8-00
वार्षिक शुल्क	रु० 75-00
द्विवार्षिक	रु० 140-00
आजीवन	रु० 750-00

इस अंक में

❐ ॐ याह् मे.................................. 1
❐ अमृत कण................................ 2
❐ विशेष लेख
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज... 3
❐ भक्ति का दीप
कु० अंजू यादव.......................... 8
❐ सम्पादकीय............................... 9
❐ हे गुरुदेव ! तुम्हें कोटिशः नमन्
राजेश कुमार श्रीवास्तव............... 12
❐ कविता
वेदप्रकाश शर्मा.......................... 19
❐ सद्‌गुरु कृपा
अंशुमान देव मालवीय.................. 21
❐ अनादि महासिद्ध योगेश्वर प्रभु रामलालजी महाराज
पूर्ण चन्द्र पन्त शास्त्री............... 23
❐ गीत
भूपेन्द्र अंकुश............................. 27
❐ आश्रम समाचार......................... 27
❐ भगवान गोरक्षनाथ का योगामृत
महन्त अवैद्यनाथ........................ 28
❐ हमारे कृपालु गुरुदेव
श्रीमती उषा चौहान..................... 30
❐ भगवत्‌नाम चिन्तन, संकीर्तन एवं..
डा० जे.एन.राय.......................... 31
❐ श्री गुरुगीता का मूल मन्त्र
ब्रह्मचारी ओमप्रकाश.................... 33
❐ स्वास्थ्य-चर्चा.............................. 37

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 33
अंक 8

नवम्बर
2000

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मूख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठा। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्ता रमवतु वक्तारम्।

भावार्थ

अर्थात्– हे सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा ! मेरी वाक् इन्द्रिय मन में स्थित हो जाये। मेरा मन वाक् इन्द्रिय में स्थित हो जाये। हे प्रकाश स्वरूप परमेश्वर ! मेरे लिए तू प्रकट हो। हे मन और वाणी ! तुम दोनों मेरे लिए वेदविषयक ज्ञान को लाने वाले बनो। मेरा सुना हुआ ज्ञान मुझे न छोड़े। इस अध्ययन के द्वारा मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ मैं श्रेष्ठ शब्दों को ही बोलूँगा, सत्य ही बोला करूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह रक्षा करे मेरी और मेरे आचार्य की।

अमृत कण

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च।।

कठोपनिषद २/२/९

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ठ एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूपवाला सा हो रहा है, वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

* * * * * * *

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्याच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।।

मुण्डकोपनिषद् १/२/१०

ईष्ट और पूर्त सकाम कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले अत्यन्त मूर्ख लोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेय को नहीं जानते, वे पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग के उच्चतम स्थान में जाकर श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप वहाँ के भोगों का अनुभव करके इस मनुष्य लोक में अथवा इससे भी अत्यन्त हीन योनियों में प्रवेश करते हैं।

* * * * * * *

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते आस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टः ततः तेन अमृतत्वम्।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् १/६

इस सबके जीविकारूप सबके आश्रयभूत विस्तृत ब्रह्मचक्र में जीवात्मा घुमाया जाता है। वह अपने आपको और सबके प्रेरक परमात्मा को अलग-अलग जानकर उसके बाद उस परमात्मा से स्वीकृत होकर अमृत भाव को प्राप्त हो जाता है।

* * * * * * *

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिक शशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/११

परमात्मा की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले योग में पहले कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु और अग्नि के सदृश तथा जुगनू, बिजली, स्फटिक-मणि और चन्द्रमा के सदृश बहुत से दृश्य योगी के सामने प्रकट होते हैं। ये सब योग की सफलता को स्पष्ट रूप से सूचित करने वाले है।

विशेष लेख

क्रियायोग-तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैंने तुम्हें कई बार व्याख्यानों में क्रियायोग के बारे में बताया हुआ है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान को **क्रियायोग या साधन योग** कहते हैं। क्रम से इनकी साधना करते-करते योगी अपने लक्ष्य-समाधि तक पहुँचा जाता है। **'नातपस्विनो योगः सिद्धयति'** जो तपस्वी नहीं हैं उसे योग सिद्ध नहीं हो सकता। तप से ही जन्म-जन्म के संचित पाप समूह का नाश होता है। पतञ्जलि जी महाराज ने योग दर्शन में इस क्रियायोग को इस क्रम से ही रखा है जिससे साधक ईश्वर समर्पण तक पहुँच जाये। तप के अन्तर्गत सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के जोड़ों को सहन करना बताया है। हठयोग में प्राणायाम को बहुत बड़ा तप माना है। इससे शरीर और इन्द्रियों के मल जल जाया करते हैं। योगदर्शन में तप का फल बताया गया है।

'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः' अर्थात् तप से अशुद्धि के क्षय हो जाने पर योगी को कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि प्राप्त होती है। कायिक सिद्धि का अर्थ है-शरीर का अत्यन्त लावण्यमय हो जाना, वज्र की तरह काय का दृढ़ हो जाना आदि। ऐन्द्रिय सिद्धि के होने पर ज्ञानेन्द्रियों के मल दूर हो जाने के कारण, दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि योग्यतायें योगी में आ जाती हैं। इस प्रकार से तप के प्रभाव से साधक को कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि स्वतः प्राप्त हो जाया करती हैं। क्रियायोग अथवा साधन योग का दूसरा अंग है **स्वाध्याय**। स्वाध्याय का अर्थ है-

'प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनम् वा' परमात्मा के ओंकारादि पवित्र नामों का जाप करना अथवा उपनिषद्, गीतादि मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन व मनन करना स्वाध्याय कहलाता है। **'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः'** स्वाध्याय का फल होता है-इष्ट देव का साक्षात्कार। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये व्यासदेव महाराज कहते हैं- **'देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्याय शीलस्य दर्शनंगच्छन्ति कार्यं चास्य वर्तन्त इति'** देवता ऋषि-मुनि तथा सिद्ध पुरुष स्वाध्यायशील व्यक्ति के समीप जाकर दर्शन देते है और उसका अभीष्ट कार्य कर दिया करते है। स्वाध्याय और ध्यान के विषय में योग शास्त्र का सिद्धान्त है-

स्वास्ध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् स्वाध्याय करने के पश्चात् ध्यान योग का अभ्यास करें। ध्यान योग के पश्चात फिर स्वाध्याय में जुट जाये। इस प्रकार मन्त्र जप एवं ध्यान से परमात्मा का दर्शन हो जाता है। इसे दूसरे शब्दों में भी कहा है-

जपशान्त: शिवं ध्यायेत्। ध्यान शान्त: शिवं जपेत्।।

अर्थात् साधक प्रथम जप करे। तत्पश्चात शिव का ध्यान करे। ध्यान करता करता थक जावे तो पुन: मन्त्र जप प्रारम्भ कर दे। इस प्रकार करने से जप और ध्यान की सम्पत्ति से इष्ट के दर्शन हो जाया करते हैं। मैं तुम्हें प्रतिदिन उपदेश करता हूँ कि तुम प्रात: काल दो घण्टे अपने गुरू मन्त्र का जाप तथा एक घण्टा ध्यान अवश्य किया करो। यद्यपि दीक्षाकाल में तुम्हें श्वास प्रश्वास से मन्त्र जपने का आदेश दिया गया था किन्तु बहुत से लोग श्वास-प्रश्वास की विधि का पालन नहीं कर सकते। दो-चार बार जपने से ही उनको निद्रा आ जाया करती है इसलिये जैसे श्री आनन्दकन्द प्रभु जी किसी किसी को आज्ञा दिया करते थे, उसी आज्ञा को मैं तुम्हें देता हूँ कि अपने गुरूमन्त्र को जीभ से बोल बोलकर जपो। जीभ से मन्त्र जपते समय आवाज होठों से बाहर न आये। इसे **उपांशु जप** भी कहते हैं। दो-तीन घण्टे लगातार इस प्रकार से नित्य जाप करने से कुछ दिनों में यह मन्त्र मन में घूमने लगेगा फिर जीभ से जाप करने की आवश्कता नहीं होती। मन्त्र स्वत: ही मन में घूमने लगेगा। किन्तु इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि यदि तुम कमर झुका कर अथवा दीवार के साथ पीठ लगाकर जाप करते हो तो निद्रा आयेगी ही आयेगी। इसलिये पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन आदि आसन में बैठकर ही जाप करना चाहिये। इन आसनों में मेरूदण्ड स्वत: सीधा रहता है। भगवान ने गीता में-

समं कायशिरोग्रीवं धारनयन्नचलं स्थिर:।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

अर्थात् काया सिर और ग्रीवा को सम रखकर इधर उधर न देखकर नासिकाग्र में ध्यान करना चाहिये। नासिकाग्र ध्यान की बात और है अभी मैं तुम्हें इसके बारे में बता नहीं रहा हूँ। कभी किसी और प्रसंग में कहेंगे। तुम्हें तो जो आज्ञा दी गई है वही करो। मन में जप स्वत: चलता रहे इसके लिये भी आवश्यकता है कि तुम मेरूदण्ड को सीधा रखो। मन में दो-तीन घण्टे जिनका मानस जाप चल पड़ता है, तो शनै:शनै: वह मन्त्र बुद्धि में प्रवेश कर जायेगा। कारण शरीर में प्रवेश करने के बाद वह स्थिति आ जायेगी जो इस मन्त्र में दी गई है **'स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते'**। कारण शरीर में पहुँचने के बाद परमात्मा का प्रकाश स्वाभाविक हो जायेगा। इस प्रकार क्रम से जप और ध्यान करने से इष्टदेव के दर्शन हो जाते हैं। हमारी हर समय यह चेष्टा बनी रहती है कि हमारा हर बच्चा ध्यान की ऊँची स्थिति को प्राप्त हो। इसलिये हम तुम्हें प्रात: ५ से ७ बजे तक ध्यानाभ्यास करने की आज्ञा देते हैं। ध्यान कैसे करना चाहिये ? यह भी मैं तुम्हें प्राय: बतलाता ही रहता हूँ। थोड़ी देर के लिये मान लो तुम मूलाधार कमल में ध्यान करने लगते हो तो हम कल्पना करेंगे कि स्वर्णिम रंग के चार दल का कमल है। यह कमल सुषुम्ना के आरम्भ में इसके अन्दर है। गुदाद्वार से चार अंगुल ऊपर है। इसलिये आवश्यक है कि मेरूदण्ड को सीधा रखा जाये। यदि कोई शरीर की चीरफाड़ कर इन कमलों को देखन का प्रयास करेगा, तो यह कमल उसे नहीं मिलेंगे क्यों

कि ये विज्ञानमय कमल है। ये दिव्य होने से दिव्य दृष्टि से ही देखे जा सकते हैं। दिव्य दृष्टि वही जो भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दी थी। अर्जुन ने भगवान के विराट रूप को देखना चाहा; किन्तु भगवान ने कह दिया–

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्य ददामि ते चक्षुः पश्य मे योग मैश्वरम्।।

अर्थात् हे अर्जुन ! तुम अपनी इन सामान्य आँखों से मेरे दिव्य रूप को नहीं देख सकते हो। इसलिये मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ। इससे मेरे योगैश्वर्य को देख। भगवान ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि देकर अपना दिव्य रूप दिखाया। इसलिये इन कमलों को ध्यान की दृष्टि से ही देखा जा सकता है। स्वामी दयानन्द जी महाराज के जीवन चरित्र में भी यह बात मिलती है कि उन्होंने किसी मृत शरीर का चीरफाड़ करके इन कमलों को ढूँढने का प्रयास किया था। किन्तु ये कमल उन्हें नहीं मिले। कारण इसका केवलमात्र एक ही था कि यह इस तरह से मिलने की चीज ही नहीं है।

इसलिये मैं तुम्हें जप और ध्यान को बढ़ाने पर बल देता हूँ। योगदर्शन में भगवान पतंजलि ने समाधि तक पहुँचने के उपाय तो बहुत से बताये किन्तु उनमें तीन बातें मुख्य बताई हैं। उनमें सबसे पहली है–धारणा। **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** किसी एक लक्ष्य स्थल पर चित्त को एकाग्र करने का नाम धारणा है। हम जब मूलाधार कमल का ध्यान करना प्रारम्भ करते हैं तो सर्वप्रथम धारणा की अवस्था में कल्पना करते हैं कि चतुर्दल कमल पर इष्टदेव गणपति विराजमान हैं। व्यासदेव जी ने धारणा के अर्थ को और स्पष्ट करते हुये कह दिया है **'तत्रापि तावत् वृतिमात्रेण बन्धो धारणा'** लक्ष्य स्थल पर वृतिमात्र से मन को ठहराना धारणा है। वृतिबन्ध का अर्थ है किसी वस्तु को मन की वृत्ति से देखना। यदि मूलाधार कमल का ध्यान करने लगते हो तो कल्पना से देखा यह मूलाधार कमल है इस पर मेरे इष्टदेव अधिष्ठातृदेव के रूप में विराजमान हैं। ऐसा मन में सोचना है। ऐसा नहीं कि उनका चित्र लेकर आँख खोलकर लगातार देखना शुरू कर दो। इसलिये कल्पनामात्र से-विचार मात्र से अपने शरीर के भीतर लक्ष्य स्थान पर देखने को धारणा कहते हैं। यह शास्त्रीय नियम है कि यदि कोई छः माह तक ठीक प्रकार से धारणा का अभ्यास कर लेता है तो उसका ध्यान लगने लग जाता है। ध्यान का अर्थ **'तत्र प्रत्ययेकतानताध्यानम'** लक्ष्य पर वृत्ति धारावत् बनी रहे। जिनका हम ध्यान कर रहे हैं वे बराबर दिखाई देते रहें। ध्यान में तीन प्रक्रियायें होती हैं–ध्याता, ध्यान और ध्येय। प्रक्रियात्मक ध्यान में यह तीन चीजें रहती हैं। ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था आ जाने पर **'तेदवार्थ मात्र निर्भासम् स्वरूप शून्यमिव समाधि'**–

वह ध्यान ही जब अर्थ मात्र रूप में निर्भासित होता रहे अर्थात जिसका ध्यान कर रहे हैं वह ही वह अनुभव में रहे और अपना आपा भी खत्म जैसा हो जाये उसी का नाम समाधि है। यह **समप्रज्ञात समाधि** है। समाधि होते-होते धारणा, ध्यान और समाधि जब एक विषयक हो जाते हैं अर्थात् जिसमें धारणा करनी शुरू की, उसी का ध्यान हो, और उसी में समाधि हो जाती है तो उसे **संयम**

कहते हैं। **'त्रयमेकत्र संयमः'** ये तीनों एक विषयक होने जाने पर 'संयम' नाम से कहे आते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में साधक रामोऽहम् कृष्णोऽहम् शिवोऽहम् की अनुभूति करता है। समय सिद्ध हो जाने पर योगी जिस-जिस वस्तु में संयम करेगा उसका तत्काल ज्ञान उसे हो जायेगा। उसके लिये कोई वस्तु अज्ञेय नहीं रहती। इस प्रकार से यथार्थ ज्ञान की यह विधि मैं क्रियायोग के विषय में समझा रहा था। क्रियायोग के दो अंग तप और स्वाध्याय का मैंने वर्णन कर दिया। इसका तीसरा अंग है ईश्वर प्रणिधान। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ उस परमगुरु को अपना आपा सौंप देना, अपना अस्तित्व सौंप देना। श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् ने ईश्वर प्रणिधान का क्रम एवं इसका फल बताते हुये इस प्रकार कहा है–

मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

अर्थात् मेरे भक्त जिनके मन और प्राण निरन्तर मुझमें ही अर्पित हैं वे परस्पर एक दूसरे को मेरे दिव्य प्रभाव एवं कर्म-लीला को सुनाते हुये अत्यधिक प्रसन्न होते हैं और फिर मुझ वासुदेव में ही नित्य रमण करते हैं। इस प्रकार से निरन्तर समर्पण का फल भगवान बतलाते हैं–

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

अर्थात् ऐसे जो निरन्तर मुझ में चित्त लगाये हुये अत्यन्त प्रीति से मुझे भजने वाले हैं। उन्हें मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार से भगवान ने आत्म समर्पण से बुद्धियोग की प्राप्ति एवं बुद्धियोग की प्राप्ति से भगवद् प्राप्ति का उपदेश दिया है। ईश्वर समर्पण के उपाय के रूप में भगवान अर्जुन से कहते हैं–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्।।

अर्थात् हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है जो खाता है जो यज्ञादि करता है, जो दान देता है, जो धर्माचरण रूप तप करता है वे सब मेरे अर्पण कर दे। इस प्रकार से करने का परिणाम यह होगा कि शुभाशुभ फल प्रदान करने वाले कर्मबन्धन से मुक्त होकर तू मुझ को प्राप्त होगा। इस प्रकार से आत्म समर्पण अथवा ईश्वर प्रणिधान से ईश्वर प्राप्ति का सिद्धान्त भगवान ने दिया है। अस्तु। मैं क्रियायोग के अंगों के विषय में बतला रहा था। क्रियायोग के ये तीन अंग इस क्रम से हैं कि इनका अनुष्ठान करता हुआ साधक ईश्वर प्रणिधान तक सहज ही पहुँच जाता है। प्रथम अंग के अन्तर्गत साधक तप करता है उसे कायिक व ऐन्द्रिय शक्तियाँ स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं। तप में ब्रह्मचर्य का तप सबसे बड़ा तप माना गया है तप के साथ-साथ साधक स्वाध्याय करता है इधर भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सहन करते हुये उसका तप चल रहा है उधर स्वाध्याय चल रहा है– मन्त्र का अनवरत

जाप चल रहा है। इसका परिणाम निकलेगा ऋषि-मुनि देवता और सिद्ध उसके सामने आयेंगे, वरदानादि देंगे। उनकी कृपा साधक पर होगी। अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा तो ईश्वर समर्पण अपने आप हो जायेगा। ईश्वर समर्पण जब हो जाता है तो वह उस समय किसी से बात नहीं करना चाहता। उसका मन अपने इष्ट देव के लिये ही तड़पता रहता है। 'तत्सुखे सुखित्वम्' के नियमानुसार इष्ट के सुख व प्रसन्नता में ही अपना सुख मानता है। तुमने भगवान श्री कृष्ण का एक उपाख्यान सुना होगा। जिस समय भगवान् द्वारिका पुरी में रहते थे तो उन्होंने भक्तों की परीक्षा की दृष्टि से एक अभिनय रचा। भगवान कहने लगे- मेरे पेट में बहुत दर्द हो रहा है। वे तड़पने का अभिनय करने लगे। उसी बीच वहाँ नारद जी आ पधारे। उन्होंने भगवान के कष्ट को देखकर पूछा-'भगवन ! आपका यह दर्द कैसे ठीक हो सकता है ? वही उपाय करें। भगवान कहने लगे- मेरा यह दर्द अभी दूर हो सकता है यदि कोई मेरा भक्त या प्रेमी अपना पैर धोकर मुझे जल पिला दे। किन्तु एक बात अवश्य है कि जो ऐसा करेगा उसे नरक में भी जाना पड़ सकता है। भगवान की तीन पटरानियाँ, रुक्मिणी, जामवंती और सत्यभामा थी। उनके सामने भी अपने चरण धोकर देने का प्रस्ताव रखा गया किन्तु नरकवास के भय से कोई भी पैर धोकर देने को तैयार नहीं हुई। अन्त में एक व्यक्ति को श्री वृन्दावन भेजा गया। वहाँ राधा जी से कहा गया कि यदि वे अपना चरण धोकर वह जल भगवान कृष्ण को भेज सकें तो उनका भयंकर पेट दर्द दूर हो सकता है किन्तु नरकवास के भय की बात उन्हें भी सुनायी गयी। 'तत्सुखे सुखित्वम्' वाली बात श्री राधा जी में थी। यदि उनके प्रियतम उनके पैर धोये जल से ठीक हो सकते हैं तो उसमें देरी फिर किस बात की'। श्री राधा जी ने नरकवास का किञ्चिद् भी भय न मानते हुये सहर्ष अपने पैर धोकर जल दे दिया। यह है समर्पण का ठीक स्वरूप। समर्पण की इस अवस्था तक पहुँचने के लिये ही क्रियायोग की साधना अपेक्षित है। इसलिये यह सिद्धान्त सामने रखो-

स्वाध्यायद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

दो तीन घण्टे जाप करो। फिर ध्यानाभ्यास करो। ध्यानाभ्यास से थक जाने पर पुनः मन्त्र जाप करो। इस प्रकार मन्त्र जाप एवं ध्यान योग के अभ्यास से परमात्मा प्रकट होते हैं- इष्ट देव के दर्शन होते हैं ईश्वर प्रणिधान या आत्म समर्पण, समाधि प्राप्ति का एक ठोस साधन है। पतंजलि जी महाराज ने स्थल-स्थल पर इस बात का संकेत किया हुआ है। इसलिये चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय अपने मन को जाप में लगाने का प्रयास करो इस प्रकार से दृढ़ता से इस पवित्र मार्ग पर चलोगे तो श्री प्रभु जी की कृपा अवश्य होगी। उनका तेज हृदय में व्याप्त हो जायेगा। इसलिये इस अमरता के देने वाले योग मार्ग में संलग्न हो जाओ। यही मनुष्य के कल्याण का मूल साधन है। बार-बार आशीर्वाद।

❊❊❊

भक्ति का दीप

-कु० अंजू यादव (आगरा)

व्यर्थ है तुम्हारा असंख्य दीप जलाना।
यदि न जलाया तुमने एक भक्ति का दीप।।
जब जलेगा एक दीप भक्ति का
न रहेगा नाम तब अन्धेरे का।
यूँ असंख्य दीप जलाते हैं 'तारे'।
हर अमावस की रात को,
पर कहीं बिना चाँद के,
हँसे कभी है तारे ?
है काम जीना हर अँधियारे का
है लक्ष्य यही इस गुरू भक्ति का
एक दीप भक्ति जब मिले दूसरे दीप भक्ति से
तब ही दिवाली है।
सदियों से बंधी एक सूत्रता
यही तो प्रभु रामलाल की भक्ति प्रणाली है।
माटी के ये दीप जलाना हर हालत में व्यर्थ है।
नहीं इसका इस भक्ति से कोई अर्थ है।
आओ जलायें एक दीप भक्ति का
यही महत्व है गुरू महिमा का।

गुरू प्रसाद

नैतिकता की सदाचार की है हंसे जहाँ हरियाली।
जन जीवन के इस उपवन के गुरुवर तुम हो माली
तुमने अभिनव पौध लगाई हृदयों की धरती पर
अमित स्नेह से सींचा है निज तप की उष्मा देकर
अपनी दिव्य दृष्टि से नित-नित संस्कार दिये हैं।
छाँट-छाँट कर दोष और सब दुर्गुण दूर किये हैं।
झलक रही सबके आनन पर आदर्शों की लाली।
जन जीवन के इस उपवन के गुरुवर हो तुम माली
समता देकर तुमने ममता का कोष लुटाया।
भेद भाव त्याग सभी की पीड़ा को दुलराया।।
सिखलाया हंस को शीतलता वितरित करना।
मधुर फूलों से भूखे प्यासे जन की झोली भरना।
पर उपकार की उठती गन्ध निराली।
जन जीवन के इस उपवन के गुरुवर तुम हो माली।।
इस उपवन के खग-मृग जग के बने हुए आकर्षण।
यह सुषमा यह सौरभ सबको देते हैं आमन्त्रण।।
आओ तुम भी इस मनोहर, हरियाली में रंग जाओ।
मानवता के क्लेश कष्ट को दूर भगाओ।।
जन जीवन के इस उपवन के गुरुवर हो तुम माली।।

योग और वेदान्त

षड्दर्शनों में योग और वेदान्त अलग-अलग किन्तु प्रमुख दर्शन हैं। सांख्य दर्शन को योग के साथ ही जोड़कर एक दर्शन के रूप में माना जाता है जो समवेत रूप में सांख्ययोग के नाम से जाना जाता है। सांख्य शास्त्र में पच्चीस तत्वों का निरूपण होने से तत्वों की संख्या का वर्णन होने के कारण ही इस का 'सांख्य' नाम पड़ा है। सांख्य शब्द ज्ञान का भी बोधक है। इन पच्चीस तत्वों का बोध हो जाने पर अविद्या से छूटकर मनुष्य मुक्ति भाजन बन जाता है। भगवान् ने गीता में कर्म एवं ज्ञान, इन दो निष्ठाओं का वर्णन किया है। **'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्'** अर्थात् हे अर्जुन ! ज्ञानयोग के माध्यम से सांख्यनिष्ठ साधक एवं कर्मयोग से योगनिष्ठ साधक अनादि काल से होते चले आ रहे हैं। गीता के तीसरे अध्याय में भगवान ने कर्मतत्व का विस्तार से निरूपण करते हुये जगत यात्रा एवं ज्ञान सिद्धि के लिये इसकी उपादेयता का वर्णन किया है। चौथे अध्याय में कर्मयोग के अभ्यास से ज्ञान सिद्धि का संकेत दिया है। इस प्रकार कभी कर्मयोग एवं कभी कर्मसंन्यास की प्रशंसा सुनकर अर्जुन भ्रमित सा होकर भगवान से कहते हैं। भगवान आप मुझे वह मार्ग बतलाइये जिससे मेरा कल्याण हो। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं–'हे अर्जुन ! कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के दाता हैं। किन्तु कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है'। वस्तुत कर्मयोग से ही कर्मसंन्यास की सिद्धि हो सकती है इसलिये भगवान ने कहा– जो व्यक्ति संसार में किसी से भी द्वेष नहीं करता और न ही किसी वस्तु की आकांक्षा करता है। ऐसा निर्द्वन्द्व कर्मसंन्यासी व्यक्ति बन्धन से सहज ही छूट जाता है। **'एकं सांख्य च योगं च य पश्यति स पश्यति'** अर्थात् जो कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग दोनों को एक ही लक्ष्य स्थल की प्राप्ति कराने वाला जानता है वह यथार्थ में जानता है। वास्तव में यह एक निश्चित सी बात है कि कर्मयोग के द्वारा ही नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। वेद भगवान् की भी आज्ञा है कि मनुष्य कर्म करते हुये सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। ऐसा करने से उसे कर्मफल लिपायमान नहीं करता। योग साधना के क्रमविधि का उपदेश करते हुये गीता में भगवान् ने इसी बात का संकेत करते हुये कहा है कि जो योग में आरूढ़ होना चाहता है उसके लिये कर्म ही विकास का कारण बनता है किन्तु जो योगारूढ़ हो चुके हैं उन्हें अपनी सूक्ष्म वृत्ति सहित मन को संयम में रखना ही उपाय लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में पर्याप्त है। यह बात भी भगवान् ने गीता में स्पष्टतः कह दिया है कि कर्मयोग के बिना कर्मसंन्यास बहुत ही कठिन है जबकि योगयुक्त मुनि ब्रह्म को तत्काल ही प्राप्त कर लेता है।

तात्विक दृष्टि वाले लोग योग और वेदान्त को एक ही मानते हैं किन्तु यह देखने में आता है इनके मतानुयायियों की भिन्न-भिन्न मान्यता है। वेदान्त को पढ़ने-पढ़ाने वाले कई लोग योग को

अवर श्रेणी में रखकर ही बात किया करते हैं। उन लोगों की इस प्रकार की धारणा योग के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण ही है। योग साधना भी है और साध्य भी है। इसलिये कहीं-कहीं पर शास्त्रों में यदि योग की गौणता परिलक्षित होती है तो वहाँ पर योग-क्रियाओं का सम्बन्ध ही जानना चाहिये। साधकों में कभी-कभी ऐसे साधक भी मिल जाते हैं जो वेदान्त को पढ़कर या सुनकर कह दिया करते हैं कि वेदान्त की साधना तो सरल है और योग की साधना नीरस व कठिन है। **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** यह जीव ब्रह्म ही है और कुछ नहीं। इस सिद्धान्त को पढ़कर वे सोच लेते हैं कि हमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है हम तो ब्रह्म हैं ही।

योग मार्ग में तो आसन करने पड़ते हैं, नेति-धोति आदि षटकर्म की क्रियायें करनी पड़ती हैं। 'प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा-ध्यान की कठिन साधनाओं का अवलम्ब लेना पड़ता है। वेदान्त में ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। किन्तु उन लोगों को नहीं मालूम कि बिना लम्बी साधना के अविद्या की गाँठ टूट नहीं सकती है। थोड़ी देर के लिये स्वयं को ब्रह्म मान लेने मात्र से ब्रह्म नहीं बन जाते। परमात्मा की गुणमयी दैवी माया समस्त चराचर को व्याप्त किये हुये है। जीव के प्राक्तन कर्म संस्कार इतने दृढ़ होते हैं कि वह परवश हो उन्हीं के अनुसार बर्तता है। योग मार्ग की साधना सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ने की साधना है। संसार वासना रूपी जाल को काटने के लिये समाधि रूपी खड्ग का ही आश्रय लेना परमावश्यक हो जाता है। जब साधक ठीक तरीके से समाधि का अभ्यास करते-करते ब्रह्म ज्ञान के निकट पहुँचने लगता है। तो सिद्धियों एवं शक्तियों के रूप में बहुत से लक्षण प्रकट होने लगते हैं जिनके कारण सृष्टि के समस्त रहस्य करतल- आमलकवत् उसके हस्तगत हो जाते हैं।

आदि गुरू शंकराचार्य वेदान्त दर्शन के आचार्यों में मूर्धन्य हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और इस ज्ञान की प्राप्ति बिना योग समाधि के कभी हो नहीं सकती। आदि गुरु योग को वेदान्त से भिन्न कभी नहीं मानते। अपने विवेक चूड़ामणि नामक ग्रन्थ में वे कहते हैं ''जो लोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रिय वर्ग तथा चित्त और अहंकार इन बाह्य वस्तुओं को आत्मा में लीन करके समाधि में स्थित होते हैं वे ही संसार बन्धन से मुक्त होते हैं। जो केवल परोक्ष ब्रह्म ज्ञान की बातें बनाते हैं वे कभी मुक्त नहीं हो सकते।'' इसी ग्रन्थ के समाधि निरूपण नामक प्रकरण में उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से कह दिया है कि अज्ञान ग्रन्थि का भेदन निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर ही हो सकता है।

'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है। इसलिये हम से कोई कर्म ही न बने इसके लिये ही हमें सारी साधनायें करनी पड़ रही हैं। वेदान्त मानता है कि ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान से ही जीव की मुक्ति होती है। इस प्रकार के **'ब्रह्मात्मैकत्व'** का ज्ञान करने के लिये ही समाधि की आवश्यकता है। त्रिगुणात्मिका माया के कारण जीव को आत्म विस्मृति हो जाती है। जिस प्रकार शैवाल (काई) को जल के ऊपर से हटा देने पर वह फिर क्षण भर में ही जल को ढक देता है इसी प्रकार से माया जीव के बुद्धि एवं मन को अपने प्रभाव से ढक लेती है। यही

कारण है कि साधक को लम्बे समय तक समाधि के अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। जंगलों में योगी लोग कन्दराओं में बैठकर इसीलिये साधनारत रहते हैं।

चित्त वृत्तियों के निरोध के लिये गीता में भगवान ने तथा योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि देव ने दो प्रमुख उपाय बताये हैं। वे हैं, अभ्यास और वैराग्य ! बार-बार चित्त को अपने लक्ष्य में लगाने का नाम ही अभ्यास है और योग रूपी गाड़ी का दूसरा पहिया है वैराग्य। जब तक चित्त वैराग्ययुक्त नहीं होता अपने लक्ष्य में स्थिर नहीं हो सकता। जाग्रत सामान्य अवस्था में भी असत् पदार्थों के सारहीनता का बोध रखते हुये उनमें चित्त का न लगाना ही वैराग्य है। इसलिये ध्यान से उठे हुये-व्युत्थानकाल में वेदान्त ज्ञान का आश्रय लेकर अपने मन को संयम में रखने का प्रयास करना चाहिये।

संशय ही अनर्थों का मूल है। रस्सी में साँप का भ्रम हो जाता है। किन्तु प्रकाश से उस भ्रम का निवारण हो जाता है। भ्रम का नाम संशय भी है। योगज ऋतम्भरा प्रज्ञा का ज्ञान समस्त संशयों का नाश करने वाला है। गीता में भगवान् ने योगसंछिन्न संशयम्' कहकर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि भ्रम या संशय का नाश योग से ही होता है।

योग एवं वेदान्त भले ही भिन्न-भिन्न दर्शन के रूप में हैं। किन्तु ये साधक को एक ही लक्ष्य तक पहुँचाने के उपाय हैं। साधक को अन्तःकरण की शुद्धि एवं अपनी वृत्ति की स्थिरता के लिये योग व वेदान्त दोनों का आश्रय लेना चाहिये। तभी वह अपने लक्ष्य की ओर शीघ्रता से अग्रसित हो सकता है।

***

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।।३०।।

सदाचार की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जाने पर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किन्तु जो सदाचार से भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये।।३०।।

हे गुरुदेव ! तुम्हें कोटिशः नमन

राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

गतांक में हमने पढ़ा–

गुरु पूर्णिमा के पर्व से कुछ दिन पूर्व एक १५-१६ वर्ष का किशोरवय बालक योग साधना आश्रम ऋषीकेश में विराजमान आनन्दकन्द पतितपावन महाप्रभु श्री रामलाल जी के पावन चरण कमलों में अपनी उत्कृष्ट आध्यात्मिक जिज्ञासाओं को लेकर उपस्थित हुआ। श्री कृष्णदर्शन की प्रबलाकांक्षा को अपने हृदय में संजोये इस कृष्ण प्रेमी बालक ने अपनी अनेकानेक जिज्ञासाओं जैसे- 'गुरु' का जीवन में क्या महत्व है ? परम गुरु व अन्य गुरुओं में क्या भेद है ? आदर्शवान श्रेष्ठ शिष्य के क्या लक्षण होते हैं और वह किस प्रकार आदर्श शिष्य की कोटि में आ सकता है ? आदि को श्री महाप्रभुजी के सम्मुख प्रकट किया। उन महायोगेश्वर नें बालक की सभी जिज्ञासाओं का निवारण करते हुये-आदर्श शिष्य के लिए गुरु के प्रति 'आत्मसमर्पण' तथा 'सदाचारपूर्ण व्यावहारिक जीवन' अपनाने पर अधिक बल दिया।

संयोग से गुरू पूर्णिमा जैसा महान पर्व बालक को ऐसे समय पर उपलब्ध हुआ जबकि वह योगियों के भी परमेश्वर (योगीश्वराणां परमेश्वरं हरिम्) महाप्रभु जी रामलाल जी के चरणों का पूजन करने के लिए पहले से ही उपस्थित थे। हजारों गुरुभक्त गुरू पूजन हेतु आश्रम में उमड़ पड़े। अपूर्व उत्साह के साथ वे सभी भाँति-भाँति की अति सुन्दर-मनोरम् वस्तुऐं अपने परम पूज्य गुरुदेव की सेवा में समर्पित कर रहे थे। कुछ लोग मोर मुकुट पीताम्बर धारण कराकर श्री महाप्रभु जी का श्रृंगार कर रहे थे। बालक की यह उनके पावन श्री चरणों में प्रथम गुरु पूर्णिमा थी। वह अति उत्सुकतापूर्वक आश्रम के एक कोने में खड़ा-खड़ा इस दुर्लभ दृश्य का आनन्द लेने में निमग्न था। आइये देखें आगे क्या हुआ-

अचानक एक आश्रमवासी साधक के भारी स्वर, इस निर्दोष-भोले बालक के कर्णद्वारों से टकराये- "अरे भाई छोटे ब्रह्मचारी जी ! अभी गुरू पूजन से निवृत नहीं हुये क्या ?" प्रत्युत्तर में बालक ने बड़े शिष्टाचार से कहा- "अभी भीड़ अधिक है, भाई जी ! उचित अवसर की प्रतीक्षा में हूँ। गुरू पूजन का आनन्द तो शान्तिपूर्ण वातावरण में ही है।"

बालक अभी भी गुरूपूजन हेतु अपनी हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। बार-बार सोचता था-"आखिर मैं श्री प्रभुजी को क्या समर्पित करूँ ? यहाँ सभी गुरुभाई-बहिन बड़ी-बड़ी अनुपम वस्तुऐं भेंट कर, उनका आशीर्वाद ग्रहण कर रहे हैं। हे प्रभु ! मैं गुरु चरणों में क्या भेंट करूँ ? धनाभाव आज तो मुझे बहुत ही खल रहा है। रीते हाथ लेकर गुरू चरणों में पूजन हेतु पहुँचूँ, यह मुझे कतई शोभा नहीं देगा। दैवयोग से प्रथम बार गुरुपूर्णिमा के पर्व पर गुरू पूजन का अवसर मिला है।"

बालक ने संस्कृत भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उसने 'भगवान शंकरजी द्वारा उपदेशित 'गुरूगीता' का निम्न श्लोक पढ़ा था जिसका स्मरण इस समय बार-बार हो रहा था। वह श्लोक इस प्रकार है-

आसनं शयनं वस्त्रं वाहनं भूषणादिकम्।
साधकेन प्रदातव्यं गुरू सन्तोष कारणम्।।

अर्थात्-साधक को चाहिए कि गुरू की प्रसन्नता के लिए आसन, बिस्तर, वस्त्र, आभूषण, वाहन आदि श्री गुरूदेव को समर्पित करें।

बालक के उर प्रदेश में उक्त श्लोक ने उथल-पुथल मचा रखी थी। अन्ततः क्लान्तमन वह गुरू कृपा तृषित बालक अशान्तचित होकर आश्रम से बाहर निकल आया। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसके बोझिल कदम उन सर्वशक्तिमान के चरण कमलों की ओर नहीं बढ़ सके। अब वे कदम धीरे-धीरे, चित्त को शीतल विश्रान्ति देने वाली माँ भागीरथी की ओर बढ़ रहे थे। रास्ते भर एक ही प्रश्न की पुनरावृत्ति होती रही- मैं क्या दूँ ? मुझे क्या देना चाहिए ? कदम तो गंगा-पथ का अनुसरण कर रहे थे; किन्तु उसका मन आश्रम के ही मन मोहक गुरू पूजन के दृश्यों में ही एकाग्रचित्त था। वह सोच रहा था-

वे सभी प्रभुप्यारे गुरुभक्त कितनी सुन्दर-सुन्दर वस्तुऐं श्री प्रभुजी को भेंट कर रहे थे। श्री प्रभुजी किस प्रकार से प्रसन्नतापूर्वक उनकी भेंटों को स्वीकार कर उन पर स्नेह वृष्टि कर रहे थे, यह देखते ही बनता था। उसका चिन्तन अवरुद्ध होने पर उसे ज्ञात हुआ कि वह गंगा तट पर आ पहुँचा है। गंगा के किनारे एक शान्त निर्जन स्थान पर बैठकर वह गंगा की ठण्डी लहरों का आनन्द लेकर अपने मन में उठे विक्षोभ को शान्त करने की कोशिश करने लगा। अपने गुरूदेव के मोर मुकुट पीताम्बरधारी वेश के दर्शनों ने अचानक उसके कृष्ण प्रेम को जगा दिया था। वहीं बैठकर वह उनके पावन श्री चरणों का ध्यान करने लगा।

उन दिनों आश्रम में सर्वशक्तिमान महाप्रभु जी की चरण-शरण में एक मुरादाबाद के रहने वाले बाबूराम नाम के, पूज्य गुरूदेव जी के वरिष्ठ गुरूभाई, योग की उत्कृष्ठ ऊँचाइयों को छू रहे थे। असंख्य देवी-देवताओं का, परमात्मस्वरुप योगियों का, सिद्धों-महासिद्धों का ध्यानावस्था में दर्शन करना, उनसे बातें करना उनके लिए बड़ी सरल सी बात हो गयी थी। आज के मूढ़ी लोगों के लिए यह मनगढ़न्त और भ्रामक बातें हो सकती हैं किन्तु ये बातें बिल्कुल सत्य हैं। उन महान 'परम गुरू' के सान्निध्य में रहने वाले प्रत्येक साधक का ध्यान तो, उनकी परमानुकम्पा से अवश्य लगता ही लगता था। इसका एक विशेष कारण यह भी था कि उस समय के साधकों का चित्त वर्तमान समय के साधकों की अपेक्षा अधिक एकाग्र और सतोगुणयुक्त था।

उधर गंगा तट पर उक्त बालक श्री कृष्ण जी के ध्यान में निमग्न था, इधर आश्रम में वे नटखट नन्द नन्दन त्रिजगत पावन अखिलात्मा योगेश्वर श्री कृष्ण चन्द्र जी अपने कर कमल में सुन्दर हल्वे का कटोरा लिए बालक को ढूंढते फिरते थे। बालक ने सुबह से कुछ भी सेवन नहीं किया था।

श्याम सुन्दर को उनकी चिन्ता हो चली थी। काफी प्रतीक्षा के बाद वे स्वादिष्ट हल्वे से भरा कटोरा ध्यानी साधक श्री बाबूराम जी को सौंप गये थे।

शाम को पाँच बजे जब बालक गंगाजी के तट से लौट कर पुनः आश्रम में प्रविष्ट हुआ तो सर्वप्रथम बाबूरामजी से ही उसका सम्पर्क हुआ। 'बालक' को देखते ही वे कहने लगे–

"अरे भाई ! ब्रह्मचारी जी, तुम कहाँ चले गये थे। श्री प्रभुजी तुमको बहुत याद कर रहे थे। दोपहर को श्री कृष्णजी आये थे, तुम्हारे लिए एक सुन्दर कटोरा हल्वे से भरा हुआ हमको सौंप गये हैं। पहले श्री प्रभुजी के दर्शन कर आओ फिर अपना 'प्रसाद' हमसे ले जाना।

योगेश्वर श्री कृष्ण जी का नाम सुनते ही बालक का खिन्नता से लटका हुआ चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। किशोरवय वह बालक तुरन्त सहमते हुए श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में पहुँच गया। साष्टांग प्रणाम करके उनके पावन चरण-कमलों में अपना मस्तक झुकाये बैठा रहा। उन 'परम गुरुदेवजी' के परम शुभ नेत्रों में नेत्र डालकर बातें करने का साहस उसमें नहीं था।

तब आश्रम की नीरवता में श्री महाप्रभुजी का वात्सल्य प्रेम से परिपूर्ण स्नेह विह्वल स्वर गूँज उठा–

"बेटा ! तुम कहाँ चले गये थे हमने तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा की।"

"जी, प्रभुजी मैं गंगा किनारे चला गया था।" इतना कहकर बालक ने पुनः अपनी गर्दन झुका ली।

वे घट-घट की जानने वाले सर्वभूतान्तरात्मा 'महाप्रभुजी', बालक की संकोचयुक्त मनोवेदना को भली भाँति समझ रहे थे। उन योग योगेश्वर 'परम गुरू' ने बालक की मनः स्थिति को अनोखे ढंग से टटोलना चाहा–

"अच्छा बेटा, एक बात को बतला। आज गुरूपूर्णिमा है। सभी हमारा पूजन करने के लिए आये। पूजन तो तुम्हें भी करना चाहिए था।"

"जी प्रभुजी।" प्रत्युत्तर में बालक ने इतना ही कहा।

"गुरु पूर्णिमा का पर्व तो प्रत्येक गुरुभक्त के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण पर्व होता है।"

"जी प्रभुजी।"

"गुरु पूर्णिमा का पर्व हमें गुरुसेवा की, उनके समीप रहकर उनसे ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए आता है।"

"जी प्रभुजी।"

"गुरु सान्निध्य में, साधक शिष्य को जीवन-निर्माण की विशेष कला सीखने को मिलती है। जन साधारण समस्त कलाओं को सीखकर भी इस महत्वपूर्ण कला के ज्ञान से वंचित ही रह जाता है। इसके महत्व को जिज्ञासुओं तक पहुँचाने के लिए ही गुरुपूर्णिमा अत्यन्त महत्वपूर्ण पर्व है इसके अभाव में समाज को 'उद्दण्डता और अनुशासनहीनता' बुरी तरह जकड़ लेती है।

"जी प्रभुजी।"

" संसार में आज तक जितने भी युगावतार महापुरुष हुऐ हैं उनके जीवन को उज्वल बनाने का श्रेय सद्गुरुओं को ही है। बिन सद्गुरु कृपा के कोई महापुरुष नहीं बन सकता है।

"जी प्रभुजी।"

"गुरूपूर्णिमा का पर्व सद्गुरुओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का पर्व है। गुरुभक्त अपने गुरु का भारी उपकार मानते हैं और गुरु की प्रसन्नतास्वरुप अनेक प्रकार के उपहार भेंट स्वरुप समर्पित करते हैं।"

इस बार 'बालक' कुछ हिचकिचाते हुए बोला-

"किन्तु क्षमा करना श्री प्रभुजी, मेरे पास तो कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे मैं आपकी प्रसन्नता के लिए समर्पित कर सकूँ।"

अनुपम नेत्रों वाले करुणानिधान 'महागुरू', इतना सुनते ही अपनी कल्याणमूलक अति मनमोहक हँसी को नहीं रोक सके, वे तुरन्त हँस पड़े। वे अपने इस प्रिय बालक के मुख से यही तो सुनना चाहते थे। श्रीमहाप्रभुजी कहने लगे-

"अच्छा ! तो तुम इसी विवशता के कारण हमारे पास नहीं आये थे।"

"जी प्रभुजी, मुझे क्षमा कर दीजियेगा।"

उन सर्वशक्तिमान् की आदर्शोन्मूलक, धर्मानुकुल सद्शिक्षाओं को सुन-सुन कर बालक उनके चरण कमलों में नतमस्तक हो-हो जाता था। उन दयानिधि के सम्मुख 'जी प्रभुजी' के अतिरिक्त कुछ भी कह पाना उसके लिए बहुत कठिन हो रहा था। श्रेष्ठ शिष्य का यही प्रमुख लक्षण होता है। गुरू के समक्ष सदा स्त्रियोचित लज्जा धारण करनी चाहिए। तर्क, उपदेश, विनोद, हठ, निन्दा-चुगली, ईर्ष्या आदि मलिनचित्त दुर्गुणों का आश्रय लेकर अहमकृति के साथ कभी भी वार्तालाप नहीं करना चाहिए। बल्कि सरल विनीत चित्त से करबद्ध होकर उनसे परामर्श करना चाहिए और गुरू आज्ञाएँ शिरोधार्य करनी चाहिए।

श्री महाप्रभुजी बड़े प्यार से समझाते हुए कहने लगे-"देखो बेटा, तुम्हारे गुरुभाइयों ने आज हमें जो कुछ भी समर्पित किया वह यथाशक्ति व अपनी इच्छानुसार किया। तुमको भी इस पर्व की मर्यादा रखने के लिए कुछ न कुछ तो हमको समर्पित करना चाहिए। किन्तु स्वेच्छा से नहीं, हम स्वयं अपनी इच्छानुसार तुम से सिर्फ एक ही वस्तु लेना चाहते हैं।"

"किन्तु श्री प्रभुजी, क्षमा कीजियेगा मेरे पास तो ऐसी कोई वस्तु ....।"

"हाँ, हाँ बेटा, वो तो हम तुम्हारी सब सुन चुके हैं। देखो, एक वस्तु तुम्हारे पास है जिस पर अभी तुम्हारा पूरा अधिकार है। तुम चाहो तो यह वस्तु हमें समर्पित कर सकते हो। किन्तु फिर यह हमारी हो जायेगी तुम्हारा इस पर कोई अधिकार नहीं होगा।"

वह अनुपम बालक भारी आश्चर्य में पड़ गया ऐसी कौन सी वस्तु मेरे पास है जिसका मुझे ज्ञान नहीं और श्री प्रभुजी उसका बोध रखते हैं।

तभी उन 'परमपिता' ने गीता का निम्न श्लोक अपने मुखारविन्द से सुनाते हुये कहा-

चेतसा सर्वकर्माणिमयि सन्नयस्य मत्पर:।

बुद्धि योगमुपाश्रित्य मच्चित्त: सततं भवि।।

अर्थात्-सब कर्मों को मन से मुझ में अर्पण करके तथा सम बुद्धि रूप योग को अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर चित्त वाला हो।

''बेटा ! मैं चाहता हूँ कि तू मेरे परायण हो जाय अर्थात् सदा मेरी आज्ञापालन में दृढ़ हो और मुझमें चिन्तन वाला हो अर्थात् सदा तू मेरे चिन्तन में निरत रहे। किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक तू अपने समस्त कर्म अर्थात मन द्वारा संचालित अपने समस्त कार्य व्यवहार को मुझे समर्पित नहीं कर देगा। तभी तू सम बुद्धियोग अर्थात् राग-द्वेष से रहित होकर प्रत्येक वस्तुओं के प्रति समान दृष्टि वाला बन पायेगा। सिद्धयोग मार्ग में निर्मल चित्त होने का यह सबसे आसन तरीका है।

''अच्छा बेटा एक बात बता, तू हमको अपना 'मन' क्यों नहीं दे देता ? शीघ्र निर्णय ले क्या विचार है तेरा। अपना 'मन' मुझे नहीं सौंपेगा तो तेरे समस्त सेवा कार्य मेरे मन के अनुरूप न होकर तेरे ही मन के अनुरूप होंगे। तब क्या तू उचित ढंग से गुरू आज्ञा पालन कर सकेगा ? बेटा ! जब तक तुम 'मनमुखी' रहकर हमारी आज्ञाओं का पालन करते रहोगे, तब तक तुम योग की उस सर्वोत्कृष्ट ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाओगे जहाँ हम तुम्हें ले जाना चाहते हैं।''

श्री महाप्रभुजी के ऐसे अकाट्य वचनों को सुनकर बालक सन्न रह गया। वे 'मन' देने की बात कह रहे थे अर्थात् निज स्वरूप देने के बदले में वे दीनानाथ 'आत्म समर्पण' की माँग कर रहे थे जो कि संसार के 'वशीभूत किसी भी व्यक्ति के लिए एक महान बलिदान की बात हो सकती है। बालक अच्छी तरह समझ रहा था कि 'मन' श्री प्रभुजी को सौंपने के बाद मैं स्वेच्छा से कोई भी कार्य नहीं कर सकूँगा। तब मेरे प्रत्येक सुख-दुःख और जीने-मरने पर केवल श्री प्रभुजी का ही अधिकार होगा। बालक अभी संसार के प्रभाव से मुक्त नहीं था। वेदनाओं-संवेदनाओं का अनुभव उसे भी होता था। 'परम गुरू' की आज्ञानुसार निर्णय शीघ्र लेना था पर कुछ समझ में नहीं आ रहा था। तभी बालक को श्री प्रभुजी द्वारा पूर्व उल्लेखित (गत अंक में पढ़ें) उपदेशों का स्मरण हो आया जिसके अन्तर्गत श्री प्रभुजी ने अपने मुखारविन्द से कहा था-''आदर्श शिष्य का धर्म है कि वह अपने गुरू को 'आत्म समर्पण' कर दे।'' इतना याद आते ही बालक के उर में नवीन चेतना शक्ति का संचार होने लगा। इस बार अधोगत शीश से अर्थात् गर्दन झुका कर नहीं बल्कि ऊर्ध्व उठाकर करबद्ध हो बड़े साहस और गर्व के साथ निर्भीक बालक ने परम पूज्यश्री की आज्ञा को स्वीकारते हुये विनीत वचनों में कहा-

''अच्छा, ठीक है प्रभुजी ! मैंने आज से स्वयं को आप को सौंप दिया। मेरा मन अब आपका हुआ। अब आप ही मेरे मन के स्वामी हैं।''

परम तेजस्वी-ओजस्वी इस अद्भुत बालक के ऐसे दृढ़ प्रतिज्ञ सुन्दर वचनों को सुनकर, उन 'करुणानिधान' के दिव्य नेत्रों में प्रेम का सागर उमड़ आया।

वात्सल्य प्रेम के अभीभूत हो उन आनन्दकन्द महाकरुणा सिन्धु जी ने तत्काल इस अपने अनोखे बालक की भुजा खींच कर अपने कलेजे से लगा लिया। और बड़े उल्लसित कण्ठ से कहा-

"शाबाश ! बेटा, ठीक है मुझे तुम्हारा वचन स्वीकार है। मुझे विश्वास था कि तुम मुझे निराश नहीं करोगे। तुम्हारे जैसी संयमनिष्ठ अन्त:भूमि मुझे अन्य किसी में दिखलाई नहीं पड़ती। तुम नि:सन्देह मेरे निज स्वरूप की योग्यता रखते हो। अपने वचन पर आरूढ़ रहने का सदा प्रयत्न करना।" और फिर इस अद्‌भुत बालक की पीठ को करुणा से थपथपाते हुये कहने लगे-

"क्यों रे ! व्यर्थ में अपना मन क्यों उदास करता है ? तू तो मेरा ह्रदय है। तुझसे हम धन-दौलत या भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा क्यों करने लगे, भला। यहाँ देने वालों की कमी आ गई है क्या ? जो तुझसे लेना पड़ेगा। तुम तो ब्रह्मचारी हो। अपने समस्त भौतिक सुखों का परित्याग करके हमारी शरण में आये हो। अपनी पढ़ाई पूरी करके जब तुम हमारे आश्रम में रहकर साधनाऐं करोगे तब तुम्हारी प्रत्येक आवश्यकता का ध्यान हम रखेंगे।

ब्रह्मचारियों का हम अपने आश्रम में निज बच्चों की भाँति पालन-पोषण करते हैं। उन्हें पढ़ाते-लिखाते हैं। हम जो भी सुख-सुविधाऐं दे पाते हैं उसी में वे सन्तुष्ट रहकर अपने-अपने सेवा कार्यों में लगे रहते हैं। यही उनका सच्चा साधु जीवन है। आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी को कष्ट सहिष्णु होना चाहिए।

गुरू की प्रसन्नता के लिए समर्पित करने हेतु एक ब्रह्मचारी के पास अपनी 'मनमुखता' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। गृहस्थी हो चाहे ब्रह्मचारी साधक दोनों का ही भला इसी में है। कि वे 'मनमुखी' होकर गुरू सेवा का ढोंग न करें। किन्तु ब्रह्मचारी का तो मनमुखता को त्यागे बिना किसी प्रकार भी गुजारा नहीं।

'मनमुखता' का पूर्णरूपेण परित्याग करके गुरू प्रदत्त किसी विशिष्ट आज्ञा (सद्‌गुरू द्वारा विशेष रूप से प्रदान की गई आज्ञा) का अक्षरश: पालन ही ब्रह्मचारी-गृहस्थी साधकों के आत्मिक उत्कर्ष की एक मात्र कुंजी है।'

साधक बाबूराम जी श्री कृष्ण जी द्वारा प्रदत्त हल्वा लेकर वहीं श्री महाप्रभुजी के चरणों में आ पहुँचे और हल्वे का कटोरा 'पूज्यश्री' के कर कमलों में सौंप दिया।

"लो बेटा, यह तुम्हारा आज के पर्व का 'महाप्रसाद' है। तुम्हें बहुत भूख लगी होगी। इसे अभी सेवन कर अपनी क्षुधा शान्त करो। हम तुम से बहुत प्रसन्न हैं।" ऐसा कहते हुये उन त्रिलोकीनाथ ने हल्वे का कटोरा बालक के हाथों में थमा दिया।

यह बालक कोई सामान्य बालक नहीं, यही हैं हमारे प्राणधन, परमधन, भोलेनाथ, विश्वनाथ हम सबके ह्रदयों में नित्य बसने वाले अकारण दयालु परम पूज्य गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज।

परम पूज्य गुरुदेवजी जब कभी अपना यह चरित्र सुनाते थे तो बड़े प्यार से कहते थे-

"और मैंने बड़ी प्रसन्नता से वह हल्वे का सारा प्रसाद तत्काल ही खा लिया। कटोरे में एक भी तृण नहीं छोड़ा।"

उक्त वचनों से गुरुदेव जी यह संकेत करते थे कि सद्‌गुरु प्रदत्त प्रसाद (पुष्प का, रज का, फल

का, मिष्ठान व भोजन आदि का प्रसाद) को सेवन करने में कभी भी बिलम्ब नहीं करना चाहिए, समस्त प्रसाद को तत्काल ही बिना किसी को खिलाये मुख में ग्रहण कर लेना चाहिए।

परम पूज्य गुरूदेव भगवान ने अपनी शिष्यत्व से ब्रह्मत्व तक की योगयात्रा में, योग विद्या सम्बन्धी अति गुह्यतम रहस्यों को अत्यधिक सरल ढंग से समझाकर, जन साधारण में प्रचारित करके, आध्यात्मिक इतिहास के पृष्ठों में योग विद्या के गूढ़ सिद्धान्तों और शिक्षाओं से सम्बद्ध नवीन ढंग के अपूर्व व उज्जवल पृष्ठों को जोड़कर संसार पर भारी उपकार किया है।

८४ वर्ष की अवस्था में अपना अन्तिम योग प्रचार कार्यक्रमं किसी शहर में करके पूज्य गुरुदेव जी, श्री सिद्धगुफा संवाई आश्रम लौट रहे थे। मेरे बड़े गुरु भाई आ० श्री सत्येन्द्र ब्रह्मचारीजी यदा-कदा ही गुरुदेवजी के साथ योग प्रचार कार्यक्रमों में जाया करते थे। पूज्य गुरुदेव जी की वृद्धावस्था थी, शारीरिक शिथिलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। इस प्रोग्राम में ब्रह्मचारी जी भी सम्मिलित थे। बड़े-बड़े शहरों के रेल्वे प्लेटफॉर्मों पर पैदल चलना, रेलगाड़ियों में योग प्रचार हेतु लम्बे-लम्बे सफ़र करना। रेल्वे पुलों की सैंकड़ों सीढ़ियाँ चढ़ना-उतरना आदि कार्यों में गुरुदेवजी अब काफी कठिनाई महसूस करने लगे थे। उक्त उल्लेखित योग प्रसार कार्यक्रम से लौटते समय भाईजी के कन्धे का सहारा लेकर एक हाथ से अपनी छड़ी टेकते हुये धीरे-धीरे रेल्वे पुल की चढ़ाई कर रहे थे। गुरूदेव जी अब तक काफी थक चुके थे। पुल की उतरती सीढ़ियों पर ही क्षणिक विश्राम पाने हेतु बैठ गये। भाईजी ने पूज्य गुरूदेव जी से करबद्ध निवेदन किया-

"महाराज जी ! अब आपका शरीर काफी थक चुका है हमारी प्रार्थना है अब तो आपके लिए श्री सिद्धगुफा, अपने आश्रम से ही योग प्रचार करना ठीक रहेगा।" श्री गुरुदेव जी ने भाई जी पर बड़े प्यार से लाड़ भरा दृष्टिपात करते हुये प्रत्युक्तर में कहा-

"लला ! कहते तो तुम ठीक हो किन्तु श्री प्रभुजी ने हमें जीवन के अन्तिम क्षणों तक योग प्रचार की आज्ञा दी है। उनकी आज्ञानुसार अपने जीवन की शेष श्वासों तक मैं इसी प्रकार योग प्रचार करता रहूँगा। मेरे वचनों के अनुसार मेरी प्रत्येक श्वांस पर श्री प्रभुजी का अधिकार है। मैंने उन्हें 'आत्मसमर्पण' किया है। सब कुछ वही करा रहे हैं। मैं कुछ नहीं करता।

तू मुझको 'उर-आँगन' दे दे।
मैं अमृत की वर्षा कर दूँ।।
पाँच लुटेरे घुस नहीं पायें।
आजा ऐसी सुरक्षा कर दूँ।।
'तू' और 'मैं' का मल धुल जाये।
अपने रंग में ऐसा रंग दूँ।।

(क्रमशः)

***

कविता

वेदप्रकाश शर्मा (सहारनपुर)

कलजुग नहीं कर जुग है यह, यहाँ दिन को दे रात को ले
क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे उस हाथ ले।। टेक

दुनिया अजब बाजार है कुछ जिन्स याकी साथ ले
नेकी का बदला नेक है बद से बदी की बात ले
मेवा खिला मेवा मिले, फल फूल दे फल पात ले
आराम दे आराम ले दुख दर्द दे आफत ले।। टेक।।

काँटा किसी को मत लगा मिस्ले गुल फुला है तू
यह ते हक में तीर है किस बात पर झूला है तू
मत आग में डाल और को क्या घास का पूला है तू
सुन रख यह नकता बेखबर, किस बात पर भूला है तू।।टेक।।

शोखी शरारत मकरो फन सबका बसेखा है यहाँ
जो जो दिखाया और को वह खुद भी देखा है यहाँ
खोटी खरी जो कुछ कही तिसका परखा है यहाँ
जो-जो पड़ा तुलता है मोल तिल-तिल का लेखा है यहाँ।।टेक।।

जो औरों की बस्ती रखे उसका भी बसता है पुरा
जो औरों के मारे छुरे उसको भी लगता है छुरा
जो औरों की तोड़े घड़ी उसका भी टूटे है घड़ा
जो औरों की चेते बदी उसका भी होता है बुरा।।टेक।।

जो औरों को फल देवेगा वह भी सदा फल पावेगा।
गेहूँ से गेहूँ जौ से जौ चावल से चावल पावेगा।
जो आज देवेगा यहाँ वैसा ही वह कल पावेगा।
कल देवेगा कल पावेगा, फिर देवेगा फिर पावेगा।।टेक।।

जो चाहे ले चल इस घड़ी सब जिन्स यहाँ तैयार है
आराम में आराम है आजार में आजार है

दुनिया न जान इसको मियाँ दरया की यह मझधार है।
औरों का बेड़ा पार कर तेरा भी बेड़ा पार है।।टेक।।

तू और की तारीफ कर तुझको सनाख्वानी मिले
कर मुश्किल आंसा औरों की तुझको भी मेहमानी मिले
रोटी खिला रोटी मिले पानी पिला पानी मिले।। टेक।।

जो गुल खिलावे और का उसका ही गुल खिलता है।
जो और का कीले है मुंह उसका भी मुंह किलता है।
जो और का छीले जिगर उसका जिगर छिलता भी है।
जो और को देवे कपट, उसको कपट मिलता भी है।।टेक।।

कर चुक जो कुछ करना है अब यह दम तो कोई आन है
नुकसान में नुकसान है एहसान में एहसान है।
तोहमत में यहाँ तोहमत मिले तूफान में तूफान है
रहमान को रहमान है शैतान को शैतान है।।टेक।।

यहाँ जहर दे जो जहर ले शक्कर में शक्कर देख ले
नेकी का नेकी का मजा मूंजी को टक्कर देखले
मोती दिये मोती मिले पत्थर में पत्थर देखले
गर तुझको यह बावर नहीं तो तू भी करके देखले।।टेक।।

अपने नफे के वास्ते ना औरों का नुकसान कर
तेरा भी नुकसान होवेगा इस बात पर तू ध्यान कर
खाना जो खा सो देखकर पानी पिये सो छान कर
यां पाव को रख फूँक मार कर और खौफ से गुजरान कर।।टेक।।

गफलत की यह जगह नहीं तू साहिबे इदराक रह
दिल शाद रख दिल शाद रह गम नाक रख गम नाक रह
हर हाल में भी तू नजीर अब हर कदम की खाक रह
यह वह भंका है ओ मियां याँ पाक रह बेबाक रह
कल जुग नहीं कर जुग है यह यहाँ दिन को दे अरु रात को ले
ये सब भाव आते हैं करुणा धारण भगवान गुरुदेव ही है।टेक।।

***

सद्गुरु कृपा

अंशुमान देव मालवीय

आज मनुष्य क्यों इतना लाचार, असहाय एवं निर्बल है और अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों को नहीं समझ पा रहा है उसका सबसे बड़ा कारण है उसका स्वयं का अज्ञान।

अज्ञान ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। अज्ञान जब तक मनुष्य के भीतर रहेगा वह अपने आपको ही महान एवं बुद्धिमान समझेगा। जब मनुष्य के भीतर अज्ञान है तो अहंकार एवं क्रोध आना तो स्वाभाविक है और यह दोनों ही बर्बादी की ओर मनुष्य को ले जाते हैं। अज्ञानी मनुष्य विषय भोग में ही अति उत्तम सुख का अनुभव करते हैं, और इसी के लिये दुष्कर्म करते हैं और इसे सबसे बड़ा कर्तव्य समझते हैं, परन्तु यह सब तो अज्ञानता का लक्षण है।

अज्ञानी मनुष्य कभी बुद्धिमान नहीं बन सकता। अज्ञान अच्छे से अच्छे मनुष्य को नीचे गिरा देता है। और ज्ञान बुरे से बुरे मनुष्य को नीचे से ऊपर उठा देता है। ज्ञान तो वह चीज है जो हमें हर अन्धकारो से सुरक्षित रखता है, परन्तु अज्ञान हम सबको अन्धकार में डुबो देता है। परन्तु मूर्ख मनुष्य को अज्ञानता में ही आनन्द ही अनुभूति होती है। क्योंकि उनको विषय भोगने का सुख अज्ञान में ही मिला करता है। ज्ञान में सब बुराई दूर चली जाती है और अच्छाई मनुष्य के अन्दर चली आती है। अज्ञानता से किया हुआ कोई भी कार्य मनुष्य का सफल नहीं हो पाता है, परन्तु ज्ञान मनुष्य के असफल कार्य को भी सफल बना देता है। वह ज्ञान ही ऐसा साधन है जो दायित्व को समझने एवं परखने का मौका देता है और इन पर चलने का एहसास कराता है। अज्ञानी मनुष्य अपने दायित्व की परवाह नहीं करता यहाँ तक कि वह यह भी नहीं जानता कि मेरा समाज, देश, माँ, बाप तथा गुरू के प्रति कर्तव्य क्या है ? इन अज्ञानियों को इस अन्धकार से प्रकाश की ओर तो कोई सद्गुरु ही ला सकता है।

वास्तव में धर्म क्या है ? दायित्व क्या है ? आज के अधिकांश मनुष्य नहीं जानते हैं और इन सब का उत्तर जानने के लिये इधर-उधर भटकते रहते हैं परन्तु इन सब का उत्तर एकमात्र सद्गुरु देव भगवान ही दे सकते हैं। सद्गुरू देव भगवान ने न जाने कितने अज्ञानियों को ज्ञानी बना दिया और कितने असफल जीवन को सफल बना दिया।

सद्गुरुदेव भगवान तो असीम कृपा एवं असीम शक्ति रखने वाले हैं। सद्गुरू देव भगवान के दर्शन मात्र से ही मनुष्य के अधिकांश पाप स्वयं कट जाते हैं। सद्गुरू देव भगवान चाहे तो मनुष्य को भोगी से योगी बना सकते हैं। ये तो सदैव ही अपने बच्चों का कल्याण करते हैं। सद्गुरू देव भगवान अपने शिष्यों के लिए अपने आप तक को न्यौछावर कर देते हैं। आज तक हम शिष्यों ने उन के लिए कुछ भी नहीं किया। यहाँ तक कि उनके बताये सन्मार्ग तक पर नहीं चलते जो कि हमारी भलाई में ही सद्गुरू देव भगवान हमें बता गये हैं।

सद्गुरू देव भगवान ने हम सब शिष्यों को आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करा कर हम सब शिष्यों के ऊपर बहुत बड़ी दया की है। हम सब शिष्यों को अपने ऊपर गर्व करना चाहिए। और हम

सब शिष्यों को सद्गुरूदेव भगवान का कृतज्ञ रहना चाहिए।

संस्कार का काफी प्रभाव होता है व्यक्ति पर। सद्गुरू देव भगवान के चरणों में भी वही आते हैं जिनका पूर्व संस्कार काफी अच्छा होता है, यह संस्कार तभी बनते हैं जब मनुष्य अच्छे कर्म करता है तथा धर्म और अच्छे कर्म मनुष्य तभी करता है जब मनुष्य को इसके लिये कोई प्रेरित करे। और यह प्रेरणा भी सद्गुरु ही दिया करते हैं।

जब ब्रह्म को पाना है तो सद्गुरू देव भगवान की चरण-शरण में आना होगा। अन्य कोई साधन नहीं है जिसके द्वारा जीव 'ब्रह्म' को पा सके। हम सब शिष्यों को अपने ऊपर गर्व करना चाहिए कि हम सब शिष्यों ने ऐसा सद्गुरू पाया। आप सभी सुयोग्य पाठकों से मेरा यह नम्र निवेदन है कि लेख की त्रुटियों को न ध्यान देते हुए इसके पवित्र भावों को ग्रहण करने की कृपा करें और सद्गुरू देव भगवान को ही एकमात्र सहायक मानकर इन्हीं की आरती पूजन एवं ध्यान धारणा और समाधि में लगें, और इनके बताये हुए मार्ग पर चलें।

***

एतान् दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत्।

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते।।९८।।
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति।।९९।।
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान् दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत्।।१००।।

—विदुर नीति

विनाश के मुख में पड़ने वाले मनुष्य के आठ पूर्वचिन्ह हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणों से द्वेष करता है, फिर उनके विरोध का पात्र बनता है, ब्राह्मणों का धन हड़प लेता है, उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणों की निन्दा में आनन्द मानता है, उनकी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता, यज्ञ—यागादि में उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगने पर उनमें दोष निकालने लगता है। इन सब दोषों को बुद्धिमान मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ।।९८–१००।।

अनादि महासिद्ध योगेश्वर प्रभु रामलाल जी महाराज

पूर्ण चन्द्र पन्त शास्त्री

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

प्रभुजी की सैकड़ों वर्षों की आयु वाले सिद्ध महात्माओं से भेंट

अपने गुरुदेव के समाधिस्थ हो जाने के बाद प्रभु रामलाल जी भी सारा दिन वहीं गुफा के आगे बैठकर आत्मचिन्तन में लीन रहते थे। जब कभी उन्हें किसी प्रकार की शंका होती तो वे उसे कोयले से गुफा की दीवार पर इस उद्देश्य से लिख देते थे कि जब गुरूदेव समाधि से उठेंगे तो वे ये बातें उनसे पूछ लेंगे। किन्तु एक-दो दिन के बाद स्वतः ही ध्यानावस्था में उनकी सभी शंकाओं का निवारण हो जाता था। पन्द्रह दिन के पश्चात् एक बार उनका मन कुछ उदास सा हो गया। तब वे उठकर गुरूदेव को प्रणाम करके बाहर निकले और उस सुरम्य वन में विचरण करते हुए तीन-चार मील आगे निकल गये। वहाँ एक झरने के समीप उन्हें एक महात्मा जी के दर्शन हुए। वे अपनी गुफा के आगे धूना जलाकर बैठे हुए थे। वे बड़े शान्त और गम्भीर दिखाई दे रहे थे और उनका मुखमण्डल तपोतेज से चमक रहा था। प्रभु जी ने पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया। महात्मा जी ने भी आदर पूर्वक उन्हें अपने पास बैठाया। दोनों में बहुत देर तक योग चर्चा होती रही। तब प्रभुजी ने उनसे पूछा-आप कब से यहाँ बैठे हैं ?

महात्माजी ने कहा-सात सौ वर्षों से।

प्रभुजी ने पूछा-हमारे गुरूदेव इस स्थान पर कब से विराजमान हैं ?

महात्मा जी ने कहा-वे हमारे गुरुदेव के दादा गुरू हैं। उनके बारे में एक हजार वर्ष की आयु वाले हमारे गुरूदेव कहा करते थे कि उनके गुरूदेव तथा उनके पूर्ववर्ती योगियों ने उन्हें इसी प्रकार बैठे देखा है। अतः उनकी आयु के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी पूर्ववर्ती योगियों तथा हमारे गुरूदेव का अनुमान यही रहा है कि योगेश्वर महाप्रभु सदाशिव जी लगभग दस हजार वर्ष से इस स्थान पर इसी शरीर को लेकर विराजमान हैं।

इस प्रकार उन सिद्ध महात्मा जी के साथ सत्संग करते हुए सारा दिन बीत गया। सायंकाल के समय प्रभु जी अपने स्थान पर लौट आये। दो तीन दिन के पश्चात् पुनः उनके मन में किसी अन्य महात्मा के दर्शनों की इच्छा हुई और वे उस निर्जन वन में उत्तर दिशा की ओर टहलते-टहलते पाँच-छः मील आगे निकल गये। वहाँ उन्हें एक पाँच सौ वर्ष की आयु वाले ऋषि के दर्शन हुए। वे अपने धूने के पास आसन लगाकर मौन भाव से बैठे हुए थे। प्रभु जी ने उनके समीप जाकर बड़ी नम्रता के साथ उन्हें प्रणाम किया। किन्तु वे बोले नहीं और न ही उन्होंने बैठने को कहा। तब वे स्वयं ही उनके निकट बैठ गये। प्रभु जी १५ मिनट तक वहाँ बैठे रहे किन्तु अहंकारी महात्मा जी ने उनसे किसी प्रकार का वार्तालाप नहीं किया। तब वे उठ गये और धीरे-धीरे टहलते हुए अपने स्थान पर लौट आये।

एक सप्ताह पश्चात् उनके मन में पुनः सत्संग करने की इच्छा जाग्रत हुई और वे अपने स्थान से पूर्व दिशा की ओर चलते हुए चार पाँच मील आगे निकल गये। वहाँ उन्हें एक सुन्दर तालाब दिखाई दिया। वे रुक गये और तालाब की ओर मुड़कर कुछ क्षणों में तालाब के किनारे पहुँच गये। वहाँ उन्हें एक अघोरी महात्मा के दर्शन हुए। यह साधु तालाब से मछलियाँ उठा-उठाकर खा रहा था।

सामने प्रभु जी को खड़ा देखकर वह अंजली में मछलियाँ भरकर उन्हें देने लगा तो देखते ही देखते वे मछलियाँ जलेबी के रूप में परिवर्तित हो गईं। उसी क्षण महाप्रभु सदाशिव जी अत्यन्त रुष्ट होकर हाथ में लम्बा चिमटा धारण किये वहाँ प्रकट हो जाते हैं और उस साधु को चिमटे से पीटने लगते हैं। यह देख प्रभु रामलाल जी भयभीत होकर भागते हुए अपनी गुफा की ओर लौट आये। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा भी नहीं। उस महात्मा के रोने-चिल्लाने की तथा 'क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये' की आवाज उन्हें मार्ग में दूर तक सुनाई देती रही। गुफा पर पहुँचकर यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि महाप्रभु सदाशिव जी उसी स्थान पर पहले की भाँति समाधिस्थ हैं। इस घटना के बाद प्रभु जी ने अपने गुरूदेव के चरणारविन्दों को छोड़कर अन्य सिद्धों तथा ऋषि-मुनियों के पास जाना उचित नहीं समझा। अब वे अपना अधिकांश समय ध्यानाभ्यास में बिताया करते थे और शेष समय में अपने गुरूदेव की सेवा किया करते थे। उन्होंने अपने गुरूदेव के लिये स्फटिक का एक सुन्दर सिंहासन बना दिया। ताकि समाधि से उठने पर वे उस भव्य सिंहासन पर विराजमान हो सकें। समाधि में बैठे-बैठे उनकी जाँघे सूज गईं थी और उन पर गाँठे उभर आई थी। प्रभु जी ने जंगली बूटियों का रस निकाल कर उन पर मला, जिससे वे और अधिक फूल गई, फिर शीतल बूटियों का रस लगाया तो उनसे खून बहने लगा। तब उन्होंने किसी अन्य योगी को यह बता बताई तो वह हंसकर कहने लगा– तुम उनके घावों का क्या इलाज करोगे ? जब वे समाधि से उठेंगे तो अपने आप सब ठीक हो जायेगा। तुम उन्हें पहले से अधिक स्वस्थ पाओगे। बाद में हुआ भी ऐसा ही तब प्रभु जी निश्चिन्त होकर अपने गुरूदेव के चरणारविन्दों में बैठकर आत्म चिन्तन में लीन रहने लगे। कई बार आप कई-कई घण्टों के लिये समाधिस्थ हो जाया करते थे। एक बार इसी प्रकार बैठे-बैठे उनकी तीन दिन की समाधि लग गई। तीन दिन बाद जब उनकी आँख खुली तो उन्होंने देखा कि उनके चारों ओर बर्फ का ढेर लगा हुआ है और उनका शरीर बर्फ में ढका हुआ है। वे बर्फ का भार सह नहीं पा रहे थे। इतने में समाधिस्थ महाप्रभु सदाशिव जी ने हाथ मारकर बर्फ हटा दी और उन्हें बाहर निकाल दिया। उन्होंने उठकर अपने गुरूदेव जी के चरणों में प्रणाम किया और धूने को देखा तो उसमें आग नहीं थी। सारी लकड़ियाँ बर्फ से ढकी हुई थी। वे ठंड से काँपने लगे। उन्होंने अपने गुरूदेव का स्मरण किया तो उनकी सारी ठंड और थकावट दूर हो गई। शरीर फूल की तरह हल्का हो गया। वे दोबारा धूने के पास गये और वहाँ से बर्फ हटाने लगे तो देखा कि बर्फ में गीली लकड़ियों के नीचे आग सुलग रही थी। उन्होंने लकड़ियाँ इकट्ठी करके आग प्रज्वलित कर दी। अब भी चारों ओर बर्फ गिर रही थी किन्तु महाप्रभु सदाशिव जी के संकल्प से उनकी गुफा के आगे बर्फ गिरनी बन्द हो गई। अपने गुरूदेव के शरीर

को गर्मी पहुँचाने के उद्देश्य से प्रभु रामलाल जी उन्हें चादर ओढ़ाने लगे तो देखा कि उनका शरीर गर्म तले की तरह तप रहा था। तब उन्होंने चादर हटा दी और अपने आसन पर जा बैठे। कुछ समय बाद बर्फ गिरनी बन्द हो गई तो वे उन सात सौ बर्ष की आयु वाले सिद्ध योगिराज के पास चले गये जिनके पास वे सबसे पहले गये थे। योगिराज जी ने बड़े प्यार से उन्हें अपनी बगल में बैठाया और उनकी कुशल क्षेम पूछी कुछ समय तक दोनों में योगचर्चा होती रही। इसी बीच प्रसंगवश प्रभु जी ने उनसे पूछा–

महाराज ! हमारे गुरूदेव की समाधि खुलने में अब कितना समय रह गया है ?

वे मुस्कराते हुए बोले– अब तुम्हें अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। आज से सातवें दिन वे समाधि से उठ जायेंगे।

यह सुनकर प्रभु जी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने फिर प्रश्न किया– महाराज ! उस अवसर के लिये मुझे क्या तैयारी करनी चाहिए ?

इस पर महात्मा जी हँसते हुए बोले–

अरे भोले बालक ! वे सारे संसार को चलाने वाले हैं। क्या वे अपनी व्यवस्था नहीं करेंगे ? हम तुम उनके लिये कर ही क्या सकते हैं ? वैसे भी उन्हें किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है।

उन्होंने कहा– देखो, जब हम लोग समाधि से उठते हैं तब हमें भी कोई कष्ट नहीं होता। क्योंकि वे हर समय हमारी रक्षा करते रहते हैं। अतः तुम निश्चिन्त रहो उन्हें कोई कष्ट नहीं होगा। वे अब तक इस प्रकार हजारों समाधियाँ लगा चुके हैं। तब प्रभु जी उन योगिराज से आज्ञा लेकर हर्ष पूर्वक अपने स्थान को लौट आये।

महाप्रभु सदाशिव का समाधि से उत्थान तथा पाँच सौ वर्षीय ऋषि के क्लिष्ट कर्मों का कुछ मिनटों में भुगतान करा देना

ठीक सातवें दिन महाप्रभु सदाशिव समाधि से उठ गये। उनके उठते ही उस क्षेत्र के सभी सिद्ध पुरुष एवं हिमालय के अन्य सैंकड़ों सिद्धयोगी तथा ऋषि मुनी उनके दर्शनार्थ वहाँ आने लगे। वे लोग भेंट स्वरूप हाथों में कुछ वन्य पुष्प या कन्द मूल लिये हुए थे। वे सब श्रद्धा पूर्वक महाप्रभु जी को साष्टांग प्रणाम करके उनके चरणारविन्दों में जिज्ञासु भाव से बैठ गये और अपनी–अपनी शंकाओं का समाधान करवाने लगे। कुछ समय बाद ५०० वर्ष की आयु वाला वह वृद्ध जो अपनी कुटिया पर प्रभु जी से बोला तक नहीं था उसने महाप्रभु सदाशिव जी से एक प्रश्न किया–

संस्कार काट देना अच्छा है या उसका भुगतान करना अच्छा है ?

सदाशिव ने प्रभु रामलाल जी की ओर संकेत करते हुए कहा – तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हमारा यह बच्चा देगा। इस पर वह ऋषि चिढ़कर बोला–क्या यह चौरासी लाख भोगने लायक छोकरा मेरे प्रश्नों का उत्तर देगा ?

महाप्रभु सदाशिव जी कुछ गम्भीर होकर बोले तुमने हमारे बच्चे को चौरासी लाख भोगने का शाप दे ही दिया है। खैर ! इसकी चौरासी लाख का निपटारा तो हम देख लेंगे। किन्तु अब तू भी इसी समय नीचे उतर जा। यह कहकर महाप्रभु सदाशिव जी ने प्रभु रामलाल जी को ध्यान में असंख्य योनियों में से निकालते हुए एक घण्टे में ही उनका चौरासी लाख योनियों में भटकने का शाप कटवा दिया। उधर महाप्रभु सदाशिव के शाप से वह ऋषि पृथ्वी के अन्दर

धंस गया। केवल अंगुलिया ही बाहर रह गई। इस पर अन्य ऋषि बोले-

प्रभो ! इस लड़के का भुगतान तो आपने करा दिया है, अब इस वृद्ध का क्या होगा ?

महाप्रभु जी बोले- इसे नीचे उतरने का शाप था, सो यह उतर गया। अब यह पहले की तरह जी उठेगा। उनके ऐसा कहने की देरी थी कि वह ऋषि जीवित होकर पुनः ऊपर आ गया। इस प्रकार महाप्रभु ने उस अहंकारी ऋषि के संस्कार का सूक्ष्म रूप में भुगतान कराकर उसे भली भाँति समझा दिया कि संस्कारों को काटने की अपेक्षा उनका भुगतान कर लेना (भोग लेना) अच्छा है।

प्रभु रामलाल जी को साथ लेकर महाप्रभु सदाशिव का आकाश मार्ग से मणि महेश को प्रस्थान एवं एक वृद्ध योगिराज को परम गति प्रदान करना

दो दिन तक वहाँ ऋषियों का आवागमन चलता रहा। तीसरे दिन महाप्रभु सदाशिव ने देखा कि-वहाँ से सैकड़ों मील दूर मणि महेश नामक स्थान पर एक ऋषि उन्हें बड़ी व्यग्रता से स्मरण कर रहा है। अतः वे एकाएक उठे और प्रभु रामलाल जी से बोले- चलो राम ! अब कहीं घूमने चलते हैं यह कहकर वे प्रभु रामलाल जी का हाथ पकड़कर चलते हुए ऊपर आकाश में चले गये। उन्होंने रामलाल जी को आँखें बन्द करने को कहा और बड़ी तेजी से उड़ते हुए वे हिमाचल प्रदेश के सीमान्त क्षेत्र में स्थित मणिमहेश नामक स्थान पर (छोटा कैलाश नाम से प्रसिद्ध तीर्थस्थल) पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने प्रभु रामलाल जी से आँखें खुलवाई और नीचे उतरकर सीधे उस गुफा में पहुँचे जहाँ एक ऋषि ध्यानस्थ था। महाप्रभु श्री सदाशिव के आगमन का उसे ध्यान में ही अनुभव हो गया था और उनके वहाँ विराजमान होते ही वह बड़ी व्यग्रता पूर्वक उनके चरणारविन्दों से लिपट गया। महाप्रभु जी ने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया और फिर स्नेह पूर्वक उसे निहारते हुए मधुर वाणी में बोले-कहो महात्मन् ! तुमने हमें क्यों याद किया ? ऋषि बड़ी नम्रता पूर्वक बोला- प्रभो ! मेरी आत्म ज्योति अब आपके अन्दर समा जाना चाहती है। इसी हेतु मैंने आपको यहाँ आने का कष्ट दिया है। हे कृपासागर आप मुझे अनुग्रहीत कीजिये।

महाप्रभु सदाशिव ने उससे पूछा- क्या तुम्हारे पिछले सभी जन्मों के संस्कारों का भुगतान हो गया है ? ऋषि बोला-हाँ प्रभो ! मैंने अपने सभी जन्म देख लिये हैं। अब कोई संस्कार शेष नहीं रहा है। महाप्रभु जी ने उसे कहा- अपना एक सौ सातवाँ जन्म देखो।

उसने उसी समय ध्यानस्थ होकर अपना एक सौ सातवाँ जन्म देखा तो उसे पता चला कि उस जन्म में उससे एक बिल्ली की हत्या हुई थी। उसका संस्कार अभी भोगने को था। परम कृपासागर योग-योगेश्वर महाप्रभु जी ने उसका उसी समय सूक्ष्म में भुगतान करा दिया। फिर उन्होंने उसे एक सौ ग्यारह वाँ जन्म देखने को कहा। उनकी आज्ञा से उसने उस जन्म को भी अपनी ध्यान दृष्टि से देखा तो उसे पता चला कि उसके उस जन्म के भी कुछ संस्कार अभी भोगने बाकी हैं। जिसे देख वह हतोत्साह एवं निराश हो गया। तब महाप्रभु जी ने कृपापूर्वक उसके उन संस्कारों का भी सूक्ष्म में भुगतान करा दिया। जिससे वह ऋषि कर्म बन्धन से पूरी तरह मुक्त हो गया और योग विधि से अपनी भौतिक देह का त्याग करके महाप्रभु सदाशिव के चिन्मय देह में मिल गया। इस प्रकार उस ऋषि को परम गति देकर महाप्रभु सदाशिव जी अपने युवा शिष्य रामलालजी को साथ लेकर पहले की भाँति आकाश मार्ग से बिहार करते हुए अपनी गुफा पर लौट आये।

***

गीत

भूपेन्द्र 'अंकुश' (जलेसर)

कृपा हम पर करो स्वामी, तुम्हारे द्वार आये हैं।
पतित, पापी, अधम, कामी, तुम्हारे द्वार आये हैं।।
मिलेगी क्या जगह हमको तुम्हारी राजधानी में ?
हमारा भी है क्या हिस्सा तुम्हारी महरबानी में ?
लगा के आस आसामी, तुम्हारे द्वार आये हैं।।१।।
हृदय का पात्र अपना तो बड़ा मैला कुचैला है।
भरा जो भाव का पानी विषैला ही विषैला है।
लिये हम सैकड़ों खामी, तुम्हारे द्वार आये हैं।।२।।
यही कहते सुने हमने दिशाओं में सभी नागर ।
''शक्ल गागर की धर कर खुद उतर आया महासागर।।
बुझाने प्यास बहुनामी ; तुम्हारे द्वार आये हैं''।।३।।
निजी भक्तों में योगेश्वर ! करो गिनती हमारी भी।
अंधेरे भी समझ जायें कि होती है उजारी भी।।
उबारो या भरो हामी, तुम्हारे द्वार आये हैं।।४।।

आश्रम समाचार

सद्गुरुदेव भगवान का पावन जन्मोत्सव समारोह

परमाराध्य सद्गुरुदेव योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज का परम पावन जन्मोत्सव विजय दशहरा के पावन दिन में श्री सिद्धगुफा सवांई एवं गुरुदेव द्वारा स्थापित देश के अनेक आश्रमों में बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। श्री गुरुदेव की जन्मस्थली अलुपुर (पानीपत) में ५, ६ व ७ अक्टूबर को यह उत्सव बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। इसके अतिरिक्त कैलाश नगर कुरुक्षेत्र स्थित आश्रम, आर.के. पुरम दिल्ली आश्रम, प्रभु रामलाल संगीत विद्यालय झाँसी, राजाजीपुरम ताल कटोरा लखनऊ स्थित सिद्धयोग शिक्षण संस्थान, प्रभु रामलाल योगाश्रम शुक्लागंज उन्नाव, योग शिक्षण केन्द्र इटावा तथा अन्यान्य अनेक स्थानों पर सत्संगियों द्वारा यह उत्सव मनाये जाने का समाचार प्राप्त हुआ है।

इन सभी स्थानों पर सद्गुरुदेव के शिष्यों व भक्तों ने सत्संग के साथ-साथ हवन, पंचामृत से गुरुदेव के श्री विग्रह का अभिषेक तथा गुरुदेव के दिव्य जीवन चरित्रों का गुणगान किया। ●●●

भगवान् गोरक्षनाथ का योगामृत

महन्त अवेद्यनाथ, गोरखपुर

मुद्रा– शरीर को हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ रखने के लिए काकी मुद्रा का अभ्यास एक महान् यौगिक प्रयोग कहा गया है। भगवान गोरखनाथ ने काकी मुद्रा का गोरक्षसंहिता में विवेचन करते हुए कहा है कि कौए की चोंच के समान मुख आकारित कर जो साधक अथवा योगाभ्यासी प्राण और अपान के विधान से शीतल वायु का पान करता है, वह कभी वृद्धावस्था का शिकार नहीं होता। जो योगी जीभ के द्वारा प्राणवायु पीता हुआ तालुमूल को पूरित करता है, वह छः मास के अभ्यास से ही सब रोगों से छुटकारा पा लेता है। यह काकी मुद्रा है, इसीलिए इसमें कौए की चोंच जैसी मुख-मुद्रा बनाकर जीभ के द्वारा वायु पीने का विधान है। इस मुद्रा में यह बात ध्यान देने की है कि नासिका के रन्ध्रों द्वारा वायु का ग्रहण निषिद्ध है।

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत्।
प्राणापान विधानेन योगी भवति निर्जरः।।
रसनातालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत्।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य: संक्षयः।।

काकी मुद्रा के अभ्यास से शारीरिक आरोग्य निरन्तर अक्षुण्य रहता है। मुद्रायें अनेक हैं पर सभी के अभ्यास का उद्देश्य यही है कि जरा जीर्णता से शरीर बचा रहे, आरोग्य बना रहे और मन प्रसन्नचित्त स्थिर रहे। महाबन्ध को श्रेष्ठ मुद्राओं में कहा गया है, इसमें बायीं एड़ी से गुदामूल का निरोध कर दाहिने पैर से बल पूर्वक बायीं एड़ी को दबाते हुए धीरे-धीरे गुह्य देश को आकुंचन करना चाहिये। महावेध मुद्रा के अभ्यास के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध व्यर्थ हो जाते हैं। पहले महाबन्ध का अभ्यास कर उड्डीयानबन्ध के बाद कुम्भक द्वारा वायु को रोकना महावेध मुद्रा है। योनि मुद्रा के सम्बन्ध में कहा गया है कि सिंहासन से बैठकर दोनों हाथ के अंगूठों से कानों को, दोनों तर्जनी से नेत्रों को मध्यमा से मुख को तथा अनामिका से नाक को निरुद्ध करना चाहिये, प्राण को काकी मुद्रा से खींचकर अपान में मिलाना चाहिये। देहस्थ षट्चक्रों का ध्यान करते हुए हूँ और हंस मन्त्रों से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर आत्मा को सहस्रार में स्थापित करें, उस समय यह भावना करें कि परम शिव के साथ मिलकर अभिन्न हूँ। यही **योनिमुद्रा** है। दोनों पैरों और मस्तक को ऊपर उठाना वज्रोलिमुद्रा है। वज्रोली, सहजोली और अमरोली मुद्राओं द्वारा बिन्दु (वीर्य) के स्थैर्य की साधना की जाती है। इन मुद्राओं का अभ्यास गुरुप्रदत्त योगज्ञान के प्रकाश में करना चाहिये। पश्चिमोत्तान आसन से बैठकर पेट को तड़ाग के समान करने से **तड़ागी मुद्रा** सिद्ध होती है, मुख बन्द कर तालु में जिह्वा को घुमाने और जिह्वा से धीरे-धीरे सहस्रदल से टपकते अमृत का पान करने की क्रिया **माण्डुकी मुद्रा** है। भ्रूयुगल के बीच में दृष्टि को स्थिर कर एकाग्र मन से परमात्मा का दर्शन करने की भावना अथवा विचारणा **शाम्भवी मुद्रा** है। इस मुद्रा का अमित महत्व निरूपित किया गया है। योगग्रन्थों में शाम्भवी मुद्रा की साधना में योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में लय कर निश्चल तारे वाली दृष्टि से शरीर के बाहर देखता हुआ भी

नहीं देखता है। इसमें परमात्मा में चित का लय महा आनन्द प्रदान करता है। उन्मनी मुद्रा में तारों को ज्योति में युक्त कर भौहों को कुछ ऊपर की ओर करते हुए परमात्मा में चित्त को लय कर देने का अभ्यास किया जाता है। बार-बार गुह्येन्द्रिय का संकोच और प्रसारण अश्विनी मुद्रा है। कंठ तक जल में खड़े होकर नासिका के दोनों छिद्रों से जल खींचकर उसे मुख से निकालना मार्तंगिनी मुद्रा है, इस मुद्रा के अभ्यास से शारीरिक बल बढ़ता है। साधक को बुढ़ापे और मृत्यु से भय नहीं रहता है। मुख को फैलाकर गले से वायु को पीना भुजंगिनी मुद्रा है। इससे अजीर्ण आदि रोग नष्ट होते हैं, स्वास्थ्य और आरोग्य में वृद्धि होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश तत्व की धारणाओं को महर्षि घेरण्ड ने मुद्राओं में परिगणित किया है। गोरक्षसंहिता में भगवान् गोरखनाथ ने इनको धारणाओं में निरूपित किया है। पृथ्वी धारणा की मुद्रा से मृत्यु को जीतकर योगी सिद्ध होकर पृथ्वी में विचरण करता है। इसी तरह आम्भसी (जल) धारणा मुद्रा का अभ्यास सिद्ध होने पर योगी भीषण गम्भीर जल में पड़कर भी नहीं मरता। आग्नेयी धारणा मुद्रा के अभ्यास से योगी प्रदीप्त अग्नि में गिर पड़ने पर जीवित और सुरक्षित रहता है। वायवी धारणा मुद्रा जरा-मृत्यु का नाश करती है और आकाशी धारणा मुद्रा की सिद्धि से योग साधक की मृत्यु नहीं होती।

षडंग योग की साधना में और विशेषता से योगेश्वर गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित योगाभ्यास में मुद्राओं की सिद्धियों से शरीर परिपक्व और पूर्ण रूप से संशुद्ध हो जाता है। 'गोरखबानी' में भगवान् गोरखनाथ ने **'अष्ट मुद्रा'** निरूपण में मूलनी, खीरनी, खेचरी, भूचरी, चाचरी और उन्मनी मुद्राओं पर प्रकाश डाला है। इनकी शरीर के भीतर साधना की जाती है।

अवधू मद्री मध्ये मूलनी मुद्रा, काम त्रिष्णा ले उतपनी कामं।
नाभी मधे बलश्री मुद्रा, काल क्रोध ले उतपनी।।
ह्रदामधे पीरनी मुद्रा, ग्यानं दीप ले उतपनी।
मुषमध्ये षेचरी मुद्रा, स्वाद विस्वाद ले उतपनी।।
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा, गंध निबंध ले उतपनी।
चषिमध्ये चाचरी मुद्रा, दिष्टि विदिष्टि ले उतपनी।।
कारण मध्ये अगोचरी मुद्रा, सबद कुसबद ले उतपनी।
ब्रह्मण्ड असथानि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी।।
परम जीति समोकृत्वा मुद्रा तौ भई उनमनी।
यतौअष्ट मुद्रा का बाणै भेव, सो, आपै, करता आपै देव।।

उपर्युक्त आठों मुद्रा की सिद्धि का परम फल गोरखनाथ ने परमात्म ज्योतिका साक्षात्कार बताया है। इन आठों मुद्राओं के अभ्यास का रहस्य समझने वाला परमात्मा स्वरूप हो जाता है। अथवा कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाता है। घेरण्डसंहिता में भगवान शिव का देवी पार्वती के प्रति कथन है कि मैंने मुद्राओं के सम्बन्ध में कहा, इनके (अभ्यास अथवा तत्वज्ञान) से सभी सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। यह ज्ञान परम गुह्य है, इसे प्रत्येक के प्रति नहीं कहना चाहिये, ये योगियों के लिये परम प्रिय और देव दुर्लभ है।

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धः प्रजायते।।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्य चित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभ मारूतामपि।।

मुद्राओं के अभ्यास से शरीर अमृतत्व से पूर्ण होता है। जरा-मृत्यु का नाश होता है, परमानन्द मिलता है।

***

हमारे कृपालू गुरूदेव

श्रीमती उषा चौहान (झाँसी)

गत ६ सितम्बर को प्रातःकाल ४-५ बजे मैंने स्वप्न में अपने श्री गुरूदेव के दर्शन किए और मैं कृतार्थ हो गई। उन्होंने कहा 'तेरा कल्याण हो' और उसी दिन मेरा 'कल्याण' हो गया। मैंने देखा कि गुरूदेव का कोई कार्यक्रम चल रहा है और प्रभुजी ने मुझे बुलाकर कहा दोनों हाथों को कमल के फूल के आकार में बनाओ। मैंने वैसा ही किया। तब उन्होंने बेला के फूलों की माला मेरे हाथों पर रखते हुये ध्यान में बैठने का आदेश दिया। गुरूभाई श्री कृष्णकांत झा भी समीप में खड़े थे। उन्होंने भी मुझसे कहा कि बहिनजी जैसा गुरूदेव कह रहे हैं, वैसा ही करो। मैं ध्यान में बैठ गयी। माननीय झासाहब भी बैठ गये। श्री गुरूदेव ने पुनः मुझे पुकारा और ध्यान करते हुए ही अपना वरदहस्त उठाकर कहा कि 'तेरा कल्याण हो'। अब नींद से मेरी आँखे खुल गयीं। मैं अचम्भित थी कि मैंने पाया कि मेरे दोनों हाथ कमल की मुद्रा में थे, जैसा करने को श्री गुरूजी ने स्वप्न में मुझसे कहा था।

मैंने परिवार के अन्य सभी सदस्यों को अपने स्वप्न की घटना बताई। फिर वे सभी अपने-अपने कार्य में लग गये और मैं भी दैनिक कार्य निपटाने में जुट गयी। लेकिन गुरूदेव की अमृतवाणी बार-बार मुझे उल्लसित करती रही। गुरूदेव के वचन कि 'तेरा कल्याण हो' का आखिर क्या अर्थ है ? किस संदर्भ में ! यह किस शुभ संकेत का प्रतीक है ? सुबह के दस बज गये। साढ़े दस बजे जब मैं कमरे को साफ कर रही थी, दरवाजे पर डाकिये ने दस्तक दी। उसने एक पत्र मेरे हाथ में थमाया। वास्तव में यह पत्र मेरे बेटे अतुल चौहान के फाइनल इण्टरव्यू का लेटर था, जो आगरा में होना था। किन्तु समय था आज ही प्रातः १० बजे का। मैं किंचित घबराई, किन्तु प्रभुजी की वाणी 'तेरा कल्याण हो' ने मुझे सम्बल प्रदान किया।

मैंने तत्काल अपने पुत्र को फोन पर यह समाचार दिलवाते हुए कहलाया कि वह तुरंत घर आ जाये। वह उस समय झाँसी में ही वैद्यनाथ में कार्यरत था। थोड़ी ही देर में घर आ गया, किन्तु इन्टरव्यू के लिए निर्धारित समय को देखकर परेशान हो उठा। मैंने उससे हिम्मत न हारने को कहते हुए आगरा फोन करके जानकारी हासिल करने के लिए कहा। फोन पर उसे बताया गया कि यदि वह चाहे तो शाम ५-६ बजे तक आकर इण्टरव्यू दे सकता है। वह सीधे स्टेशन भागा। वहाँ आगरा जाने वाली छत्तीसगढ़ ट्रेन मानों उसकी ही प्रतीक्षा में खड़ी थी। टिकिट लेकर वह आनन-फानन में उस पर सवार होकर समय से आगरा पहुँच गया और इण्टरव्यू दे दिया। प्रभु कृपा से उसका चयन हो गया और १ सितम्बर दिन सोमवार को जे.पी. पैलेस होटल, आगरा में उसकी नौकरी लग गयी।

इस प्रकार गुरूदेव जी ने स्वप्न देकर न केवल मेरे लिए शुभेच्छा की बल्कि आगरा में मेरे बेटे को नौकरी देकर उसे अपने घर में और अपनी सद्कृपा की छत्रछाया में पनाह दे दी। मेरा स्वप्न साकार हो गया।

***

भगवत्नाम चिन्तन, संकीर्तन एवं श्रद्धान्वित भक्ति से धारणा व ध्यान की पुष्टि

डा० जे.एन.राय (लखनऊ)

'ध्यान' योग शास्त्र का प्रमुख अंग है। योग की सिद्धि के लिये ध्यान की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। महामुनि पतंजलि ने तो अष्टांग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा की सिद्धि के बाद ही ध्यान के पूर्णत्व पर बल दिया है।

'धारणा, चित्त का देशबन्ध है और 'ध्यान, प्रत्ययैकानता है। इस प्रकार मन की एकाग्रता धारण और ध्यान में अपना प्रमुख स्थान रखती है। ध्यान को सुपुष्ट करने के लिये साधक भगवान्नाम जप, इसका चिन्तन, संकीर्तन करे और अपने इष्ट में श्रद्धान्वित भक्ति करे तो मन की चंचलता लयगत होकर मन की एकाग्रता धारायत बनी रहती है। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि

असंशय श्रद्धाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।६.३५

अर्थात् : निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है।

भगवान नाम जपते-जपते साधक भगवान के दिव्य गुणों-अहिंसा, सत्य, दया, प्रेम, सरलता, साधुता, परोपकार आदि का चिन्तन करे। मन की चंचलता के संयम संकीर्तन करने पर चंचलता का शमन होता है। तथा श्रद्धान्वित प्रेम भक्ति से धारणा के माध्यम से ध्यान परिपुष्ट होता है। भगवान के दिव्य गुणों के चिन्तन करने से शुभ ध्यान का प्रादुर्भाव होता है। पवित्र विचारों से मन का स्थिर रहना यदि धर्मस्थान है तो मन की अत्यन्त निर्मलता से उत्पन्न चित्त की एकाग्रता शुक्ल ध्यान है।

ध्यान सूक्ष्म चिन्तन या स्मरण का पर्याय है। ध्यान के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। गीता में तो यहाँ तक कहा गया है कि शरीर छोड़ते समय मनुष्य जिस भाव का चिन्तन करता है, वह उसी भाव को अगले जन्म में प्राप्त करता है। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तू बराबर मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर। युद्ध में यदि तेरी मृत्यु भी हो जायेगी, तो मुझमें तेरी बुद्धि और मन के स्थिर रहने के कारण तू मुझे ही प्राप्त होगा।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। ८/६

धारणा एवं ध्यान को सुगम बनाने के लिये भगवान्नाम चिन्तन एवं संकीर्तन की महत्ता का स्पष्ट ढंग से श्रीमद्भागवत् में उल्लेख आता है कि:-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वदनं दास्यं सख्यमात्मनि वेदनम्।। (७/५/२३)

इष्ट चिन्तन की ये नौ विधियाँ हैं। यदि मन एवं बुद्धि सदैव परमेश्वर के विचार में मग्न रहे तो स्वाभाविक है कि इन्द्रियाँ भी धारणा और ध्यान में सतत् लगी रहेंगी। इन्द्रियों के कार्य कम से कम

बाहर से तो वह ही रहते हैं। लेकिन चेतना बदल जाती है। इष्ट में श्रद्धान्वित प्रेम भक्ति से साधक में ध्यान का प्रत्ययैकानता सतत बनी रहती है। इसी से गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है–

मच्चित्ता भगवत्प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मा नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

(गीता १०/९-१०)

अर्थात् निरन्तर मुझमें मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्त मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुये तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुये ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुये और प्रेम पूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्वज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। इष्ट में श्रद्धान्वित प्रेम भक्ति की पुष्टि में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है–

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।

(गीता १२/६-७)

अर्थात् जो मेरे परायण रहने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वर को ही आनन्द भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुये भजते हैं हे अर्जुन ! उन मुझ में चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का तो शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार समुद्र से उद्धार करने वाला मैं होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।

इष्ट में श्रद्धायुक्त भक्ति द्वारा समर्पण भाव का अनूठा दृष्टांत (निष्कर्ष) भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में उपर्युक्त भाव के अनुकूल व्यक्त हुआ है–

सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वां सर्वपापेभ्यों मोक्ष यिष्यामिमाशुचः।।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान चिन्तन, संकीर्तन एवं श्रद्धान्वित भक्ति से साधक के सारी वासनायें एवं क्लेश समाप्त होकर सात्विक गुणों का विकास होता है और वैराग्य भाव परिपुष्ट हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि साधक में मन की प्रबल एकाग्रता से धारण (चित्त का देशबन्ध) ध्यान (प्रत्ययैकानता) में परिणित हो जाती है। इस प्रक्रिया से अष्टांग योग की बहिरंग साधनायें सरल एवं सहायक ही रहती हैं।

***

श्री गुरुगीता का मूलमंत्र

ब्रह्मचारी ओमप्रकाश (लखनऊ)

श्रुति और वेदान्त वाक्यों में गुरु यह दो अक्षर मन्त्रराज हैं और साक्षात परमपद हैं। श्री गुरुदेव जी के चरण-सेवन से ही जीव सब पापों से विमुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। गुरु तत्व से बढ़कर संसार में कोई तत्व नहीं है यथा-''नास्ति तत्वं गुरोःपरम्।'' मुक्ति और ब्रह्म पद दोनों के दाता सद्गुरु ही हैं अतः गुरु गीता में मन्त्रों का मन्त्र मंत्रों का राजा गुरुगीता का मूल मंत्र यही है-

''ध्यान मूलं गुरोमूर्ति पूजा मूलं गुरोः पदम्।
मंत्र मूलं गुरोवाक्यं मोक्ष मूलं गुरु कृपाः।।

श्री गुरुदेव जी के मूर्तिमान शरीर में ध्यान का मूल वही प्रगट गुरु शिव तत्व है। श्री गुरुदेवजी का शरीर तो माध्यम है-उस शिव कल्याणकारी तत्व को प्रगट करने का। श्री गुरुदेव जी की मूरत में उस अमूर्त परम गुरु शिव का ध्यान करना समस्त ध्यान की साधना का वही मूल है। ''ध्यानमूलंगुरोमूर्ति'' ''पूजामूलंगुरुपदम्'' अर्थात पूजा का मूल सद्गुरुदेव जी के श्री चरण कमल हैं। जबकि सर्वाधिक पूज्य तो श्री गुरुदेव जी का मस्तिष्क होना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो श्री गुरुदेवजी के मस्तिष्क से ही होता है और वह श्री गुरुदेव जी के श्री मुख के द्वारा मिलता है शिष्यों को ब्रह्मज्ञान। श्री सद्गुरु देव जी के दोनों भौंहों के मध्य में जो द्विदल पदम है; जिसमें 'हं' क्षः'' दो अक्षर हैं वस्तुतः वही श्री गुरु पीठ है, गुरु पद है, श्री गुरु की प्रतिष्ठा उसी के जाग्रत होने पर होती है। श्री गुरुदेव जी को तिलक उसी गुरु पद को, पदवी को, गद्दी को, जहाँ श्री गुरुदेव प्रतिष्ठित हैं किया जाता है। और उसके ऊपर जो श्री गुरुदेव जी का सिर का भाग है जिसे ब्रह्म रन्ध्र अथवा सहस्त्राधार कमल कहते हैं उसके ऊपर हम पुष्प चढ़ाते हैं। क्योंकि वह परमगुरु गुरुओं के गुरु शिव का पीठ है; धाम है। श्री गुरुदेवजी का शरीर तो शिवालय है और श्री गुरुदेवजी के श्री चरणों पैरों के ऊपर वह शिवालय खड़ा हुआ है।

श्री गुरुदेव जी के श्री चरण पैर ही शिवालय का मूल आधार, नींव हैं। श्री गुरुदेवजी का सिर तो शिवालय का शिखर है; वही शिव का कैलाश शिखर है। इसी रमणीक कैलाश पर्वत के शिखर पर शिवजी ने 'पार्वती' जी को प्रथम दीक्षा-उपदेश प्रदान करके इस पावन गुरु-शिष्य परम्परा का श्री गणेश किया था। इस श्री गुरुदेव रूपी शिवालय का प्रवेश द्वार श्री गुरुदेव जी के श्री चरण ही है, जो नीचे है; अतः इस श्री गुरुदेव रूपी शिवालय में श्री गुरुदेव रूपी चरणों में झुककर ही प्रवेश कर सकते हैं अर्थात् श्री गुरुदेव जी के श्री चरणों में प्रणाम करके झुक के ही श्री गुरुदेव रूपी शिवालय के अन्दर जाकर ''शिवलिंग'' शिव स्वरूप श्री गुरुदेव जी का दर्शन कर सकते हैं। अहंकार से अकड़ा व्यक्ति बिना झुके शिव मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता। इसीलिए तो प्राचीन शिव मन्दिरों के प्रवेश द्वार छोटे और नीचे होते हैं। अपने ज्ञान का, धन का, पद का, कुल का जो अहंकार मनुष्य के सिर में भरा हुआ होता है उसके झुकाऐं-नवाऐं बिना शिव मन्दिर में गुरुदेवजी के हृदय प्रदेश में प्रवेश नहीं होता। जीवों के इस अहंकार, अभिमान, घमण्ड 'मैं' को ही नष्ट अथवा लय करने के लिए ही श्री गुरुदेव जी के श्री चरणों की पूजा का महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। यह जीव अहंकार

वश ही कर्म करके कर्म बन्धन में बँधता है और इस अहंकार के वशीभूत होकर ही पाप करता है और अहंकार ही सब पापों का बाप है, कहा भी है-

"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िए, जब तक घट में प्रान।।"

श्री गुरु चरणों में सिर झुकाने से सिर में भरे पाप गिरकर नष्ट हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप यह जीव निष्पाप हो जाता है। सिर्फ इतना ही नहीं इससे भी महत्व पूर्ण पापों को नष्ट करने की राम वाण औषधि हैं श्री गुरुदेव जी के श्री चरणों का चरणामृत। अगर श्री गुरुदेव जी के चरणों में झुकने प्रणाम् करने के बावजूद भी अगर थोड़ा बहुत अहंकार (पाप) रह भी गया है तो श्री गुरुदेवजी के श्री चरणों को धोकर उस चरणामृत का पान करने से पूर्णत: अहंकार रहित होकर शिष्य पूर्णत: शुद्ध, पवित्र हो जाता है। तभी तो उसको चरणामृत अर्थात उसे अमृत कहा है। श्री गुरुदेव जी के चरणामृत का पान करने से शिष्य का देहाभिमान गलित होता है। इसके अतरिक्त श्री गुरुदेव जी की समस्त शक्ति गुरुदेव जी के अगूठे के नख में होती है। श्री गुरुचरणामृत का पान करने से श्री गुरुदेव जी की शक्ति शिष्य के अन्दर प्रवेश कर जाती है। शिष्य जब श्री गुरुदेव जी के श्री चरणों में अपना सिर रखता है तो श्री गुरुदेव जी का वरद हस्त स्वाभाविक रूप से शिष्य के सिर पर चला जाता है। और इस प्रकार श्री गुरुदेव जी के हाथ के माध्यम से भी श्री गुरुदेव जी की दया-कृपा शक्ति शिष्य के सिर में प्रवेश कर जाती है। जो उसके अहंकार को नष्ट कर देती है। श्री गुरुशक्ति का मूल स्रोत श्री गुरुदेव जी के चरणों के कमल में है।

जब शिष्य श्रद्धा से श्री गुरुदेवजी के श्री चरणों मे अपना सिर रखता है तो श्री गुरुदेव जी का हृदय कमल खिल जाता है अथावा खुल जाता है जिससे श्री गुरुप्रेम शिष्य के सिर की तरफ नीचे की ओर प्रवाहित होने लगता है और शिष्य का सिर ऊपर का हिस्सा और श्री गुरुदेव जी के श्री चरण नीचे का हिस्सा जुड़कर एक सम्पर्क सूत्र जुड़ जाता है।

इसका दुसरा अर्थ है कि श्री गुरुपद परम पद है उससे ऊँचा-बड़ा तीनों लोकों में कोई भी पद नहीं है। अत: उस परम पद को गुरुपद को प्राप्त करना ही समस्त पूजाओं का मूल है। मूलरूप से एक सद्‌शिष्य को इसी परम पद की प्राप्ति के लिए गुरुपद की पूजा करनी चाहिए। यह परम-पद, देव, मनुज, सिद्ध, किन्नर श्री राम-श्री कृष्ण ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी के लिए परम पूज्य है। इसे जो पा लेता है, वह भी सभी के लिए पूज्य हो जाता है। पूजा इसी परम पद गुरुपद की ही मूल रूप में होती है। जिस शिष्य के हृदय में परम गुरु का यह पद प्रतिष्ठित हो जाता है वह पूजनीय हो जाता है। श्री गुरुपद श्री गुरुदेव जी के चरण, पग ही शिष्य की निधि है और शिष्य का सिर यह गुरु की निधि है। इसलिए

बन्दहु गुरु पद पदम परागा। सुरूचि सुभाष सरसि अनुरागा।।
बन्दहु गुरुपद कंज कृपा सिन्धुनर रूपहर। महामोह तम पुन्ज जासुवचन रवि कर निकर।।

अब इसके बाद मंत्र का मूल गुरुदेव के वचन कहे हैं-

"मंत्र मूलं गुरु वाक्यम्" श्री गुरु मुख से निकले वाक्य-वचन शिष्य के लिए ब्रह्म वाक्य, ब्रह्मज्ञान की तरह हैं। श्री गुरुदेव जी की आज्ञा दिए गए आदेश और आदेशों को, आज्ञा को सुनकर उनके उपदेशों के अनुसार चलकर ही शिष्य फिर शिष्य न रहकर गुरु ही हो जाता है, क्योंकि वह

गुरुदेव कृपा के तो मानो समुद्र ही हैं। बाहर से देखने में नर मनुष्य लगते हैं लेकिन उनका वास्तविक स्वरूप शिव का है। उनका रूप तो हमारी तुम्हारी तरह नर का ही होता है, लेकिन हम केवल श्री गुरुदेव जी के बाह्य रूप को ही देख पाते हैं उनके वास्तविक स्वरूप के दर्शन तो किसी-किसी गुरुभक्त को ही हो पाते हैं। ऐसे शिव स्वरूप श्री गुरुदेव जी के वचन सूर्य की प्रकाशमयी आग्नेय किरणों की भाँति होते हैं। जिनको सुनकर महामोह तम रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है।

इसके अतरिक्त श्री गुरुदेवजी जो मंत्र देते हैं वह मंत्र रूप में परंब्रह्म परमात्मा ही को देते हैं। सत तत्व को ही मंत्र रूप में शिष्यों को प्रदान करते हैं जिसको जप करके शिष्य ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है "ब्रह्मविद ब्रह्मैदिभवति।" अथवा

"उल्टा नाम जपा जग जाना। वाल्मीक भए ब्रह्म समाना।।
जो जानहि जाहि देहि जनाई। जानत तुम्हें तुमहि हो गाई।।"

अर्थात ब्रह्म का जप करने वाला ब्रह्म ही हो जाता है वाल्मीक जी ब्रह्म के नाम का जप करके ब्रह्म के ही समान हो गये। और वह परं ब्रह्म अपने को जनाने के लिए किसी सद्‌गुरु के शरीर को अपना अधिष्ठान बनाता है और फिर श्री गुरुदेवजी के श्री मुख में बसे ब्रह्म को गुरुमंत्र के रूप में पाकर तथा उसका निरन्तर जप-ध्यान करके शिष्य भी ब्रह्म रूप ही होजाता है। लेकिन मंत्र से भी ज्यादा श्री गुरुदेव जी की दी हुई आज्ञा मंत्र होती है। इसका गूढार्थ यह है कि "गुरु" वाक्य अर्थात शब्द जो है वह 'गु' और 'रु' यह दो शब्द अक्षर ही सभी मंत्रों के राजा हैं और साक्षात परम पद हैं। 'गु' का अर्थ है प्रकाश और 'रु' का अर्थ है अन्धकार अर्थात अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला ब्रह्म ज्ञान का प्रकाश ही गुरु है। इसलिए 'गुरु' वाक्य को मंत्रों का मूल कहा है क्योंकि सभी मंत्रों की जड़ मूल गुरुदेव ही हैं। श्री गुरु के द्वारा ही सभी प्रकार के मंत्र शिष्यों को दिए जाते हैं। बिना गुरु के प्राप्त मंत्र जप का कोई अर्थ नहीं है फल नहीं है। कबीर कहते हैं "शब्दहि कुंजी, शब्दहि ताला, शब्दहि शब्दभया उजियाला" क्योंकि शब्द जो है वह कुंजी और ताला दोनों ही हैं। सभी मंत्र रूपी शब्दों के ऊपर ताले लगे हुए हैं और उनकी ताली गुरुओं को सौंप दी गई है। श्री गुरुदेव ही उस ताली से शब्द के ऊपर लगे ताले को खोलते हैं तब शब्द का अर्थ अर्थात ब्रह्म प्रकाशित होता है।

"मोक्ष मूलं गुरु कृपा:" उन परंब्रह्म स्वरूप श्री गुरुदेव जी की कृपा से संसार के समस्त जीव 'मुक्ति को, मोक्ष को प्राप्त होते हैं। मोक्ष-मुक्ति तथा ब्रह्म प्राप्ति गुरुकृपा का ही फल है तभी तो कहा है **माल मुल्क हरि देव हैं हरिजन हरि ही देव।। जीवभाव को मार कर जीव ब्रह्म करिदेत।।** क्योंकि यह जीव अज्ञान देहाभिमान के कारण मोह-माया के वशीभूत होकर देह में आसक्त हुआ देह में बँधा है। 'मैं' देह हूँ यही सब अज्ञानों का मूल है। सभी मूल इसी मूल की मूल से प्रारम्भ होती है। इस मूल की मूल का निवारण गुरु शिष्य की सेवा से प्रसन्न होकर अपनी कृपा के द्वारा करते हैं और गुरुदेव कृपा करके जीव पर 'तू देह नहीं है आत्मा है उसे आत्म बोध प्रदान करते हैं। श्री गुरुदेव जी की कृपा के पात्र शिष्य मोक्ष अवश्य पा लेते हैं। देह के कारागृह से मुक्त हो जाते हैं। श्री गुरुदेव जीव के अन्दर पड़े अज्ञान आवरण को हटाकर आत्म ज्ञान प्रदान करते हैं क्योंकि 'गुरु' भी उनका अर्थात भगवान का एक नाम है। यह गुरु नाम कभी किसी मनुष्य का नहीं हो सकता। वह ईश्वर ही, शिव ही जीव के कल्याण मोक्ष गति प्रदान करने के लिए प्रणधान शिक्षा देने के लिए गुरुरूप में मनुष्य शरीर में प्रकाशित होते हैं। इसीलिए गुरु गीता में कहा है कि 'गुरु' को

मनुष्य रूप में देखने से नरक गामी होना पड़ता है। जब तक गुरु में शिष्य की ईश्वर बुद्धि नहीं होती तब तक कोई भी शिष्य गुरु के माध्यम से मुक्ति नहीं पा सकता। क्योंकि एक मात्र ईश्वर ही मुक्ति प्रदान करता है श्री गुरु के माध्यम से।

''मैं' और 'मेरी' के बन्धनों में पड़े इन दीन दुखी जीवों की दुर्दशा और दुर्गति को देखकर उनपर दया करुणा करके संसार में गुरु रूप में परम गुरुशिव अवतरित होकर इन संसारासक्त मोह ममता के बन्धनों से अपनी शरण में लेकर प्रथम गुरु अपने में जीवों का आत्म समर्पण कराके फिर परब्रह्म परम गुरु के गुरुदेव सम्मुख शिष्य को कर देते हैं। जिससे जीव अपने स्वरूप को जानकर जन्म-मरण रूप महान दुःख से सदा के लिए छूटकर मुक्त हो जाता है। यह जीव संसार से विमुख होकर परमात्मा के सम्मुख हो जाए और भगवान के साथ अपने नित्य योग (नित्य सम्बन्ध) नित्य स्वरूप को अर्थात् अपनी आत्मा को ही परमात्मा का स्वरूप पहचान करके ब्रह्म से मिलकर ब्रह्म ही हो जाये इसी मुख्य प्रयोजन के लिए ही परब्रह्म परम गुरु का संसार में गुरु के रूप में अवतरण होता है सद्गुरु की करुणा कृपा से ही जीव ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है। जो अज्ञान तम को मिटाए, मोह निन्द्रा से जीवों को जगाये सत तत्व को जो दिखाये वहीं सतगुरु हैं। एक ब्रह्म शिव प्रकृति माया सहित है और दूसरा ब्रह्म माया रहित है वही गुरु तत्व है। गुरु तत्व में माया नहीं है तभी तो गुरु मोह माया के बन्धनों को काट देता है। वह परब्रह्म परमात्मा गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है जैसा कि सद्गुरु नानक देव जी ने भी अपने गुरु ग्रन्थ में लिखा है-

''एक औंकार सतिनाम कर्ता पुरूख, निरभउ निरबैर
अकाल मूरत अजूनि सैभं गुरु प्रसादि।''

अर्थात्- वह (ब्रह्म) एक हैं औंकार स्वरूप है सतनाम है कर्ता पुरुष है भय से रहित है बैर से रहित है कालातीत मूर्त है आयोनिज है स्वयंभू है। वह गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है।

अतः शिव स्वरूप श्री गुरुदेव भगवान की मूरत का ध्यान श्री गुरुदेव जी के चरण कमलों की पूजा तथा उनके वचनों आज्ञाओं का पालन ही शिष्यों के लिए सदा कल्याणकारी है। मुक्तिकारी है। कल्याणकारी शिव स्वरूप श्री गुरुदेव जी की शरण में जाने वाले की दुर्गति नहीं होती। कल्याणकारी कर्म करने वाले किसी की दुर्गति नहीं होती।

इस जगत में सद्गुरु देव जी से गुरु दीक्षा प्राप्त करने जैसा कल्याणकारी कोई दूसरा कर्म नहीं है। समस्त जीवों की इसी कल्याणकारी कर्म के करने से सद्गति होती है। गुरु दीक्षा के द्वारा सदगुरु संत स्वरूप परमात्मा को देकर असत संसार को तुमसे छीन लेते हैं। गुरु तुम्हारे समस्त सांसारिक सम्बन्धों को तोड़कर अपनेसे जोड़ता है और फिर तुम्हारा सम्बन्ध परमात्मा से जोड़ देता है। गुरु देव सत स्वरूप परमात्मा को तुम्हें देते है पर तुम तो कहते हो कि परमात्मा का हम क्या करेंगे लेकर। परमात्मा हमारे किस काम का। यह परमात्मा का असत संसार हमारे काम का है। हमारे काम में आता है। संसारी जीवों को संसार से तथा परिवारी जीवों को परिवार से निकाल लेने के लिए 'गुरुदेवजी एक अध्यात्म संसार परिवार बनाता है, गुरु भाई बहिन का। गुरु अपने बनाये संसार में तुम्हें रहने को कहता है लेकिन तुम वहाँ भी नहीं रह पाते। तो गुरु तुम्हें कैसे मुक्त करेगा ?

***

जीवन तत्व साधन

(स्वास्थ्य-चर्चा)

(पिछले अंक से आगे)

आज तक जितने व्यायाम मानव समाज मे प्रचलित है उनमे खिलखिलाकर हँसना सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि हँसने से हमारे समस्त स्नायुओं पर समान तनाव पड़ता हैं। ईश्वरीय सृष्टि मे हँसी का आनन्द लेने का अवसर केवल मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि पशु-पक्षी आदि रो तो सकते है पर हँस नही सकते। चिन्ता से मुक्त होने के लिए और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार का उपाय करता है। कोई नशा पीता है, कोई जुआ, ताश, शतरंज खेलता है। कोई सिनेमा देखता है तो कोई दोस्तों मे बैठकर गप्पबाजी करता है। किन्तु ये सब उपाय अनैतिक तथा पैसा व समय नष्ट करने वाले है। यदि थोड़ी सी प्रसन्नता मिलती भी है तो उसके बदले भारी कीमत चुकानी पड़ती है। बाल-मचलन की क्रिया बहुत आसान, बिना खर्च वाली, कम समय वाली तथा अधिक लाभ देने वाली है। अन्य उपायों से प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए बाह्य उपकरण की आवश्यकता पड़ती है किन्तु बाल-मचलन बिना किसी वाह्य उपकरण के कहीं भी की जा सकती है। और प्रसन्नता का लाभ उठाया जा सकता है। श्री महाप्रभु का यह एक अनोखा आविष्कार है जो युवको एवं वृद्धों को भी बालक बना देता है।

हमारा शरीर असंख्य जीवित कोशिकाओं (cells) का एक समूह है। हमारे मन व मस्तिष्क के प्रत्येक भले-बुरे अनुभव का प्रभाव उस पर पड़ता है। क्रोध के कारण मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर गरम हो जाता है, काँपने लगता है। भय के समाचार से रोंगटे खड़े हो जाते है, दिल धड़कने लगता है। चित्त जब प्रसन्न होता है तो सारा चेहरा फूल के समान खिला हुआ दिखाई देता है। आँखे हँस रही सी जान पड़ती है। जो बालक परीक्षा मे उत्तीर्ण होने का शुभ समाचार देने के लिए घर दौड़ता है, उसका शरीर आनन्द के मारे उससे भी आगे निकल जाने को करता है। यह बात गलत है कि जब कोई कष्ट आ पड़ता है, तो चिन्ता व शोक घेर लेते है और मनुष्य का वश नही चलता। जिनको अपने स्वास्थ्य सुधार का ध्यान है वे सदैव हर हालत मे प्रसन्न रहने का अभ्यास करते है। एक व्यक्ति दो रुपया कमाता है, वह रोता है और एक फकीर खाली जेब है मगर वह हँसता है और मस्ती से गाता है। यह सब मन का फेर है। यदि आपका मन बहुत समझाने पर भी हँसता नही है और हर समय चिन्तित व खेदयुक्त रहता है तो आप बाल-मचलन क्रिया का अभ्यास कीजिए। ऐसा करने पर आप देखेंगे कि प्रसन्नता आपके पास दौड़ी आ रही है।

रोगी की चिकित्सा मे प्रसन्नता का बड़ा हाथ है। एक बार पाँच व्यक्ति नाव पर कही जा रहे थे। निश्चित स्थान दूर था तभी एक व्यक्ति के पेट मे तीव्र पीड़ा उत्पन्न हो गई। जी मिचलाने लगा। उसी पार्टी का एक व्यक्ति बड़ा हँसोड़ा था। उसको एक सुन्दर कहानी याद आ गई और वह सुनाने लगा, जिसको सुनकर सभी के पेट में बल पड़ गये। सभी लोग, हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। वह पेट का रोगी व्यक्ति भी हँसा और खूब हँसा, जिससे उसके पेट का दर्द एक बारगी दूर हो गया।

एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक के पास एक युवक को लाया गया उसकी आयु बीस वर्ष की थी। वह हृदय रोग से पीड़ित था। जाति का ठाकुर होते हुए भी अति दुर्बल था। उसके पिता व चाचा की अच्छी खेतीबारी थी और उन दो भाईयों के बीच यही अकेला लड़का था। युवक के रोगी होने पर उसके पिता ने उसे अच्छे-अच्छे वैद्यों डाक्टरों को दिखाया और हजारों रुपया इलाज में खर्च किया, मगर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में उसे लखनऊ मैडिकल कॉलेज ले गये और वहाँ डाक्टरों ने एक्स-रे आदि करके बतलाया कि युवक के हृदय की झिल्ली पर एक ट्यूमर बन गया है, जो दवा से ठीक नहीं हो सकता। उसका आपरेशन ही इलाज है, किन्तु हृदय का आपरेशन नाजुक है और हो सकता है कि रोगी की मृत्यु हो जावे। अत: डाक्टरों ने कहा कि यदि युवक के बाण्ड भर दो तो आपरेशन किया जा सकता है। युवक के पिता भयभीत होकर घर लौट आये और अपने परिजनों से सलाह करने लगे। उसी समय किसी ने उक्त मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का पता बताया और कहा कि उनसे भी राय ले ली जाय।

मनोवैज्ञानिक ने युवक की पत्नी से, उसके माता-पिता से अनेक प्रश्न किये और रोग के कारण का पता लगाकर कहा कि आपरेशन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह युवक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा द्वारा ठीक हो जायेगा उसके घर वाले बहुत प्रसन्न हुए और हजारों रुपये देने को तैयार हो गये। मनोवैज्ञानिक ने कहा-इसके इलाज में दो मास लगेगा और इस बीच युवक की स्त्री, माता-पिता, चाचा, बहिन आदि सभी को परिजनों को मेरे पास आना पड़ेगा तथा मेरे प्रश्नों का सही उत्तर देना होगा ताकि मैं रोग की ग्रन्थि खोल सकूँ और युवक को स्वस्थ्य बना सकूँ। ऐसा ही किया गया और मास में वह युवक स्वस्थ हो गया। उसका पुन: एक्स-रे कराया गया तो ट्यूमर का कहीं पता नहीं था। सभी विकार दूर हो गये और वे लोग प्रसन्नता पूर्वक अपना जीवन बिताने लगे।

मनोवैज्ञानिक ने अपनी डायरी में लिखा है कि प्रश्नों द्वारा यह मालूम हुआ कि जब युवक १२ वर्ष का था तभी उसका विवाह कर दिया गया। उसकी स्त्री एक पढ़ी लिखी आधुनिक विचारों वाली लड़की थी। उसकी आयु १९ वर्ष की थी। लड़की स्वस्थ और यौवन पर थी युवक १२ वर्ष का दुबला-पतला बालक था। पहले ही दिन लड़की ने अपने बालक पति को फटकार दिया और उसका तिरस्कार किया। युवक को कुछ ठेस लगी और वह बीमार रहने लगा। लड़की अपने मायके चली गई और पुन: ससुराल जाने से इन्कार कर दिया। युवक के मन पर एक प्रहार हुआ और उसका जिगर बढ़ गया। उसे पीलिया रोग हो गया और अधिक कमजोर होने लगा। उसके पिता ने अच्छे-अच्छे डाक्टरों द्वारा उसका इलाज कराया और धीरे-धीरे वह स्वस्थ हो गया। उसकी दुर्बलता जाती रही और वह खेती-बारी का काम देखने लगा। अब उसकी आयु १६ वर्ष की हो गई उसके पिता और चाचा ने उसका दूसरा विवाह एक अच्छी सी लड़की से कर दिया। दैवयोग से इस बार विवाह के बाद जो लड़की आई वह बीस वर्ष की थी। वह बड़ी स्वस्थ, सुन्दर और आकर्षक थी। कुछ दिन तो पति-पत्नि का साथ चलता रहा, किन्तु लड़का छोटा था और लड़की बड़ी इससे मेल नहीं बैठा। लड़की के मन पर असन्तोष छा गया और लड़का हीन भावना से ग्रस्त हो गया।

युवक का पिता प्रौढ़ शरीर से स्वस्थ व रूपवान था। घर में अपने लड़के की बहू को नित्य देखता था। धीरे-धीरे उसके मन में विकार उत्पन्न हो गया और कालान्तर में युवक के पिता का अनैतिक सम्बन्ध युवक की पत्नी से हो गया। कुछ दिन तो यह मामला छिपे-छिपे चला, मगर भेद खुलता गया। अब तो वह लड़की अपने पति के सामने उसके कमरे से उठकर श्वसुर के कमरे में चली जाती और वहीं रात बिताती। युवक हीन भावना से ग्रस्त था। उसमें विरोध की शक्ति नहीं थी। वह अपनी निगाहों से इस दुराचार को देख रहा था और प्रतिरोध नहीं कर पा रहा था। इससे उसके हृदय पर गहरा आघात लगा और परिणामस्वरूप उसके हृदय पर ट्यूमर निकल आया।

मनोवैज्ञानिक ने अपनी चिकित्सा पद्धति द्वारा सभी भेदों का रहस्योद्घाटन कर दिया। उसके परिवार के सभी लोगों को बुलाकर उनके विचारों में परिवर्तन किया। युवक और युवती को समीप लाने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिक उपाय किये और थोड़े दिनों के लिए उस दम्पत्ति को पहाड़ों पर ले गया, और वहाँ उन्हें प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरे से मिलने, घूमने खेलने खाने और विहार करने की सुविधा प्रदान कर दी। युवक के आहार-विहार में समुचित परिवर्तन करके उसका स्वास्थ्य सुन्दर बना दिया। लड़की के विचारों में भी परिवर्तन आ गया और वह अपने पति से प्रेम करने लगी। दोनों प्रसन्नतापूर्वक जीवन यापन करने लगे। इस प्रकार वह युवक बिना किसी औषधि या आपरेशन के स्वस्थ हो गया। मनोवैज्ञानिक का मूलमन्त्र था मन में छिपे विकारों को बाहर कर देना तथा प्रसन्नता का जीवन में प्रवेश करा देना। प्रसन्नता वह संजीवनी बूटी है जो भयंकर से भयंकर रोगों को भी दूर कर सकती है

भगवान् श्री कृष्ण ने भी कहा है-

प्रसादे सर्व दुःखानां, हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्यायु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

अर्थात्

पाकर प्रसाद पवित्र जन के, दुःख कट जाते सभी।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता, बुद्धि दृढ़ होती तभी।

अर्थ-प्रसन्नता के होने पर सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है। प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

प्रसाद का साधारण अर्थ प्रसन्नता है। ऐसी प्रसन्नता जो हर्ष विषाद में एक रस बनी रहती है। कठिन से कठिन दुःख में भी जिस पर उदासी की छाया नहीं पड़ती। जिसके अन्तर में प्रसन्नता का संगीत छिड़ा रहता है उस पर बाहरी सुख-दुःखों का प्रभाव नहीं पड़ता। उपनिषद् कहती है कि-

आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान् न, बिभेति कुतश्चनेति।

ब्रह्म आनन्दमय है। आनन्दमय ब्रह्म को जान लेने वाला कभी किसी प्रकार के दुःखों से भयभीत नहीं होता। सदा प्रसन्न रहना मानसिक तप है। प्रसन्नता के अभाव में व्याकुलता, अशान्ति एवं घबड़ाहट रहती है। प्रसन्नता से शान्ति और स्थिरता आती है। प्रसन्नता में बुद्धि को कोई क्लेश, अभाव, राग द्वेष अथवा विकार अशान्त नहीं कर पाते। प्रसन्न चित्त वाला सदा आनन्द के समुद्र में

हिलोर लेता है। कठिन से कठिन संकट में भी उसके मुख पर मुस्कराहट खेलती है। वह अपनी प्रसन्नता से दूसरों के हृदयों के जमे हुए मैल को धो देता है।

एक वकील साहब थे उनकी स्त्री थी। किसी दिन वकील साहब पत्नी से नाराज हो गये और कुछ अपशब्द कह गये। पत्नी भी तेज तर्रार थी। उसने भी दो-चार कटु वचन बोल दिये। बस फिर क्या था, एक दूसरे के साथ बोलना बन्द हो गया। वकील साहब का भोजन उनके कमरे में आ जाता और वे वही खाकर कचहरी चले जाते। वापस आते तो बाहर कमरे मे बैठकर समय बिताते। कई दिन इस प्रकार बीत गये। एक दिन वकील साहब के मन में विचार आया कि यह क्या मुसीबत है। एक ही घर मे हम रहते है। वह पत्नी है, मै पति हूँ। हम आपस मे बोलते नही है। पत्नी के मन मे भी यही विचार आया, परन्तु अब पहल कौन करे ?

वकील साहब का एक आठ वर्ष का लड़का था। वह बड़ा हँसोड़ व प्रसन्न चित्त था। वह किसी कीर्तन में गया था और वहाँ से एक गाना सीख आया जिसकी पहली पंक्ति थी–

मुख से कड़वे बोल न बोल।

एक दिन वकील साहब कचहरी से आये तो उनका लड़का उनके कमरे मे आ पहुँचा और वहीं बैठकर गाने लगा–

मुख से कड़वे बोल न बोल।

वकील साहब ने सुना तो बोले–देख बेटा ! यहाँ नही, अपनी माँ के कमरे मे जाकर गा।

बच्चा वहाँ से माँ के कमरे मे पहुँचा और एक ओर बैठकर गाने लगा–

मुख से कड़वे बोल न बोल।

माँ ने यह बात सुनी तो मुस्करा उठी और बोली–देख बच्चे यह बात अपने पिताजी से जाकर कह। बच्चा वहाँ हँसता हुआ उठा और अपने पिताजी के कमरे में जाकर गाने लगा–

मुख से कड़वे बोल न बोल।

वकील साहब ने कहा–अरे तू फिर आ गया। तुझे कहा कि अपनी माँ के कमरे में जाकर गा। बच्चे ने हँसते हुए कहा– कि बड़ी मुसीबत है। माँ के कमरे मे जाता हूँ तो वे कहती है पिताजी के कमरे में जा यह गीत गा और आपके कमरे में गाता हूँ तो आप कहते है कि माँ के कमरे में जाकर गा। मै अब किसी के कमरे में नही जाऊँगा। दोनों कमरों के बीच मे बैठकर गाऊँगा।

मुख से कड़वे बोल न बोल।

माँ अपने कमरे के द्वार पर खड़ी थी और पिता अपने कमरे के द्वार पर। दोनों इस गीत को सुनकर हँस पड़े। दोनों के मन का मैल कट गया। दोनों मे मिलाप हो गया। यह है–प्रसन्नता का जादू। प्रसन्न चित्त लड़के ने अपने माता-पिता के मन के मैल को हँसते हुए गीत गाकर दूर कर दिया।

प्रसन्नता का मूल्यांकन नहीं हो सकता है। यह बाजार में भी नही मिलता। यह अपने अन्दर से उठने वाली वस्तु है। यदि आप प्रसन्नता प्राप्त करना चाहते है तो बाल-मचलन क्रिया कीजिए और आपका हृदय आल्हाद से भर जायेगा।

***

पौड़ी-पौड़ी चढ़ना होगा!

यदि परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानससे किसी ऐसे महत्तर और पूर्णतर सत्य का अनुभव न होता हो जो उसके नीचे के लोकों में नहीं है, तो वहाँ पहुँचने का प्रयास करना भी व्यर्थ ही है। प्रत्येक लोक के अपने-अपने विशिष्ट सत्यानुभव हैं। सभी सत्य सर्वत्र वैसे ही नहीं हैं। कुछ सत्य ऐसे हैं जो ऊर्ध्वतर लोक में हैं ही नहीं। उदाहरणार्थ, वासना और अहंकार मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अज्ञान की सत्ता थे; वहाँ कोई अहंकाररहित या वासनारहित हो तो वह एक निर्जीवसा तामसिक यन्त्रमात्र है। पर इस लोक से जब हम ऊपर उठते हैं, तब अहंकार और वासना की कोई सत्ता ही नहीं रहती, वहाँ वे असत् प्रतीत होते हैं और सदात्मा और सत्यसंकल्प को विकृत-विपर्यस्त करने का काम करते हैं। दैवी और आसुरी शक्तियों का संग्राम यहाँ की एक नित्य-सत्य घटना है; पर ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों इसकी सत्ता कम होती जाती है और परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानस में इसकी कोई सत्ता रह ही नहीं जाती। अन्यान्य सत्ताएँ हैं; पर पूर्ण स्थिति में आकर उनका स्वरूप, महत्व और स्थान बदल जाता है। व्यक्त और अव्यक्त का भेद या तारतम्य परा प्रज्ञा की सत्ता में सत्य भासित होता है-परात्परा प्रज्ञा में इस भेद का भेदरूप अस्तित्व नहीं है, वहाँ व्यक्त और अव्यक्त दोनों अभिन्नरूप से एक हैं। पर परा प्रज्ञा की स्थिति साधकर उसमें जो पूर्ण होकर न रहा हो वह परात्पर विज्ञान की सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता। मनुष्य का मन तो ऐसा है कि इसे एक प्रकार से अक्षम-सा अर्थात् व्यर्थ का दर्प होता है और इस दर्प में वह भिन्न-भिन्न स्थितियों के सदनुभवों को छाँटने लगता है और अन्य सब सदनुभवों को असत्य, अलीक जानकर केवल उस एक महत्तम सत्य की ओर उछल पड़ता है जिसे उसने स्वरूपत: तो नहीं, अनुमान से जाना है; पर यह एक प्रकार का उच्चपदाभिलाप और गर्वयुक्त प्रमादमात्र है। बात यह है कि जो कोई ऊपर चढ़ना चाहता है उसे पौड़ी-पौड़ी चढ़ना होगा और हर पौड़ी पर मजबूती से पैर रखकर, स्थिर होकर ऊपर उठना होगा, तभी वह शिखर तक पहुँचेगा।

-महर्षि अरविन्द

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवांई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री --

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

कठोपनिषद् १/२/१८

नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा, न तो जन्मता है और न मरता ही है, यह न तो स्वयं किसी से हुआ है न इससे कोई भी हुआ है अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा नित्य सदा एकरस रहने वाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धि से रहित है। शरीर के नाश किये जाने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिन्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326